उरसि मे यया सिक्तं स्नेहदुग्धं तपोमयम् ।
श्यामायै मातृरूपायै सूनुनेदं समर्प्यते ।।

श्यामासूनु —
विनय

भूमिका

उपाध्याय श्रीवल्लभ रचित अरनाथ–जिनस्तव वृत्ति-सहित पाठकों के सामने है। इसमें अठारहवें तीर्थङ्कर श्रीअरनाथ[1]का स्तवन किया गया है। कुल मिलाकर इसमें ५५ छन्दों में स्तुति की गई है, जिनमें से प्रत्येक पर लेखक ने स्वयं वृत्ति लिखी है, जैसा कि वृत्ति के अन्तिम पद्य से पता लगता है :—

येषां स्फुरत्प्रतापाधिक्यजितः सन्निरन्तरं भानुः।
भ्रमतितमांवियति हि ते, ज्ञानविमलवाचका नन्द्युः॥
तत्पादाम्बुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वै।
विहिता स्तववृत्तिरियं, यदनृतमिह तद्बुधैः शोध्यम्॥

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें एक सहस्र रकारों का प्रयोग किया गया है। एक रकार यहाँ एक कमलदल का प्रतीक है; अतः सहस्र रकारों के प्रयोग द्वारा एक सहस्रदल कमलरूप स्तवन की कल्पना की गई है। ऐसा करने में सचमुच बड़े प्रयत्न, पाण्डित्य और प्रतिभाकी आवश्यकता थी। अतएव लेखक ने एक प्रकार की गर्वोक्ति के रूप में प्रारम्भ में ही कहा है :—

---

१. अरनाथका चरित देखनेके लिये देखें, हेमचन्द्राचार्य प्रणीत त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित।

स्वकीयविद्यागुरुसत्प्रसादात्,
करोमि वृत्तिं स्तवनस्य चार्वीम् ।
अरं जिनं हर्षकरं प्रणम्य,
सहस्रपत्राम्बुजगर्भितस्य ॥

सहस्रदलकमल का सम्बन्ध इस देश में योगशास्त्र से रहा है; वस्तुतः यह कल्पना उद्भूत ही वहाँ से हुई । योग में उच्चतम अनुभूति को विभिन्न पद्धतियों में शतदलकमल या सहस्रदलकमल के प्रतीक द्वारा व्यक्त किया गया है । वैदिक-साहित्य में इसे कभी कभी सहस्राक्षरा वाक् या सहस्रधार-पवमान भी कहा गया है । यह सहस्राक्षरा वाक् ही संभवतः पुद्गल – परमाणुओं के आत्यन्तिक निरसन के पश्चात् अवशिष्ट शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा है जिसके इस रूप को ही "सहस्रमुख शेष"के प्रतीक मे मूर्तिमान किया गया हो । यही कल्पना सहस्रारचक्र के मूल में भी है, क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक वाङमय में विविधरूप में प्रयुक्त चक्र अन्त में कमल के साथ तादात्म्य करने लगा था; अशोक स्तम्भों पर निर्मित चक्र की रचना इसका सब से बड़ा प्रमाण है ।

अस्तु, सहस्रदलकमलगर्भित स्तवन का प्रयोग एक तीर्थङ्कर के लिये अत्यन्त ही उपयुक्त है । 'तीर्थङ्कर' शब्द का अर्थ प्रायः चतुर्विधसघकर्ता किया जाता है । यद्यपि इस अर्थ को अव्यवहार्य नहीं कहा जासकता, परन्तु इसका एक अर्थ और भी है जो 'तीर्थ' शब्द की मूलधातु 'तॄ' के प्रकृत अर्थ को ध्यान मे रखकर संस्कृत-साहित्य मे

किया गया है। इसके अनुसार तीर्थ एक घाट है, एक मार्ग है जिसके द्वारा भव-सरिता को जीव पार कर सकता है। इसी मार्ग को दिखलाने वाले तीर्थङ्कर हैं; और इस मार्ग पर चलने के लिये समाज को चतुर्विध सङ्घ के रूप में संगठित किया, अतः बाह्य सामाजिक दृष्टि से यह चतुर्विध सङ्घ ही वस्तुतः उस तीर्थ या मार्ग का स्थूलतम रूप है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इस स्थूल तीर्थ का सूक्ष्मरूप और चरमलक्ष्य वह आध्यात्मिक तीर्थ या मार्ग ही था जिसके द्वारा उस आध्यात्मिक सिद्धि को प्राप्त किया जा सकता था जिसका प्रतीक सहस्रदलकमल है। इसी मार्ग को जानने वाले 'गातुविद' तथा बनाने वाले 'पथिकृत' नाम से वेदों में आये हैं। इसी मार्ग को संसार के लिये प्रकट करने के कारण ऋषभदेव आदि महापुरुष 'तीर्थङ्कर' नाम से अभिहित हुये। अतः तीर्थङ्कर और सहस्रदलकमल का स्वाभाविक संबन्ध है।

काव्य की दृष्टि से, यह स्तवन वस्तुत. एक चित्रकाव्य है जो साहित्यशास्त्र में एक अधम काव्य माना गया। परंतु इसमे सन्देह नही कि चित्रकाव्य की रचना मे छन्दशास्त्र, व्याकरण, निर्वचन तथा कोष आदि पर पूर्ण आधिपत्य होना आवश्यक है। यही कारण है कि इस प्रकार की रचनाएँ साहित्य में नही के बराबर है। श्रीवल्लभ उपाध्याय ने भी अपने ग्रंथ की रचना मे ऐसे ही पाण्डित्य का परिचय दिया है, जैसा कि परिशिष्ट प से स्पष्ट है। इतने सीमित काव्य में सहस्र रकारों का प्रयोग इस पाण्डित्य से ही संभव हो सका। अत:

चाहे भावाभिव्यक्ति या रस-निष्पत्ति की दृष्टि से इसे उत्कृष्ट काव्य न माना जाय, परन्तु विचार-वैदग्ध्य, रचना-कौशल तथा उक्ति-वैचित्र्यकी दृष्टि से प्रस्तुत काव्य एक सर्वोत्कृष्ट चित्रकाव्य है और जो पण्डित काव्य-प्रेमी इस प्रकार के काव्यों में निपुण और अभ्यस्त है उनके लिये एक उच्च-कोटि का मनोरंजनकारी स्तवन है।

जो पाण्डित्य और पाटव लेखक ने रकारों के विविध प्रयोग में दिखलाया है उसके कुछ उदाहरण देना यहाँ असंगत न होगा। प्रथम दो छन्दों के रकार-गर्भित शब्दों को ही ले लीजिये —

असुरनिर्जरवन्धुरशेखर-प्रचुरभव्यरजोभिर पञ्जिरम् ।
क्रमरज शिरसा सरस वरं, जिन रमेश्वर ! मेदुरशङ्कर ॥१॥
प्रवरवर्णरमागरचन्दिर-जठररागरसाविरसङ्गर ! ।
मुचिरकृनरभीतरभद्रर ! कुरु रमं भर मामरहत्यर ! ॥२॥

इन दोनों श्लोकोंमे कुल ३२ रकार हैं। इनमें आमरहत्यर, चन्दिर आदि शब्दों को रकार गर्भित करने के लिये जिस प्रतिभा और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह उनकी स्वोपज्ञवृत्ति मे भलीभाति प्रगट है। इस सम्बन्ध में विशेष विवेचन अरजिनस्तव-वृत्ति प्रकरण में आगे करेंगे।

श्रीवल्लभ ने अपनी इस पुस्तक में जिस पाण्डित्य का परिचय दिया है, वह केवल उनही तक सीमित नहीं थी। उनकी गुरु-परम्परा में जैसा कि हम देखेंगे बड़े-बड़े माने हुए विद्वान् उपाध्याय हुए, और इसमें संदेह नहीं कि ऐसी

ज्ञान-समृद्ध परम्परा में जिसका व्यक्तित्व विकसित हुआ हो वह अपने कृतित्व और व्यक्तित्वके लिये उस परम्परा का सब से अधिक ऋणी होगा। इसीलिये कवि के परिचय से पूर्व ग्रन्थ के माहात्म्य की पृष्ठभूमि को समझने के लिये सर्वप्रथम गुरु-परम्परा को जान लेना आवश्यक है।

गुरु-परम्परा

प्रस्तुत पुस्तक के रचयिता कवि श्रीवल्लभ वाचनाचार्य उपाध्याय श्रीज्ञानविमल गणि के शिष्य थे। आपकी गुरु-परम्परा बहुत ही उच्चकोटि के विद्वानों तथा गीतार्थों से अलंकृत रही है, जैसा कि आपने अपनी टीका ग्रन्थों की प्रशस्तियों में दिखलाया है :—

शुशुभिरे जिनराजमुनीश्वराः, खरतराह्वगणाभ्रदिवाकराः।
तदनु भूरिगुणा जयसागरा, जगति रेजुरनुत्तमपाठकाः॥७॥
तेषां शिष्या मुख्या दक्षा आमन्नदूष्यगुणलक्षाः।
श्रीरत्नचन्द्रनामोपाध्यायाः साधुपरिधायाः॥८॥
तत्पट्टस्फुटपद्मप्रकाशनोदारसूरसङ्काशाः।
श्रीभक्तिलाभनामोपाध्यायाः शास्त्रकर्त्तारः॥९॥
धीमन्तोऽन्तिपदस्तेषां कलाकौशलपेशलाः।
समजायन्त राजन्तो ग्रन्थार्थाम्भोधिपारगाः॥१०॥
चारित्रसारपाठक-भावाकर-सद्गुणीश्वरा दक्षाः।
श्रीचारित्रचन्द्रवाचकधुर्याः स्मार्या मुनीशानाम्॥११॥
तेषां क्रमशः पट्टव्योमाङ्गणशीतरश्मिसङ्काशाः।
श्रीभानुमेरुवाचक-जीवकलश-कनककलशाह्वाः॥१२॥

तत्र चारित्रसाराख्या उपाध्यायाः महाशयाः ।
बभूवुः श्रुतपाथोधिपारीणाः साधुवृत्तयः ॥१३॥

तत्पट्टे समभूवन् विलसत्संवेगरङ्गसंल्लीनाः ।
वाचकपदप्रधानाः श्रीमन्तो भानुमेर्वाह्वाः ॥१४॥

सौभाग्यौघ निविडजडतां व्यञ्जयत्यन्तयन्ती,
यद्वक्त्राम्भोरुहसु वसति प्राप्य गौर्ललसीति ।
गम्भीरा ये वृहदुदधयः स्फूर्तिमन्तो महान्तो,
गाम्भीर्यादिप्रवितसुगुणैर्वर्ण्यलावण्यपुण्याः ॥१५॥

जयन्ति क्षमाया समयकथित ज्ञानविमला-
भिधर चञ्चत्पाठकपदवरा ज्ञानविमलाः ।
लसत्तत्पट्टे वचनरचनारञ्जितजना,
महावादिव्राजप्रमितिकथनावाप्तविजया. ॥१६॥

वैराग्यरससँल्लीना तद्गुरुभ्रातरोऽधुना ।
विजयन्ते महान्तः श्रीतेजोरङ्गगणीश्वराः ॥१७॥

तेषा जयन्ति जयिनः सुनया विनेया.,
मद्भागधेयमतिमत्प्रतिवाद्यजेयाः ।
श्रीज्ञानसुन्दरसुधी–जयवल्लभाद्या ,
वाग्देवताप्रतिमसत्प्रतिभाप्रवानाः ॥१८॥

श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।
श्रीवल्लभेन रचिता शिलोञ्छशास्त्रे शुभा टीका ॥१६॥

शीलोञ्छनाममालावृत्ति–प्रशस्ति ।

* * *

राजच्छ्रीजिनराजसूरिगुरवोऽभूवन् पुरा भूतले,
विख्यातामलकीर्त्तिपूरितचतुर्दिङ्मण्डलाः सर्वदा ।
मानोन्मत्तवदावदप्रवरधीवाद्योघदुर्दन्तिनां,
सिंहध्वाननिभाः प्रणाशनविधौ लब्धप्रतिष्ठोच्चयाः ॥७॥

तत्पट्टे विबुधार्चितांह्रिकमलाश्राह्म्याप्तचञ्चद्वराः,
नानाशास्त्रपवित्रवृत्तिरचनाविख्यातसद्बुद्धयः ।
रेजुस्ते जगतीतले वरगुणाजीवावतारा इवो–
पाध्याया जयसागराः सुयशसः सत्पात्रशोभावहाः ॥८॥

तत्पट्टोदयशैलबालविलसत्सूर्योदयाः पाठका,
आसन् वाग्जितदेवसूरिकवयः श्रीरत्नचन्द्राह्वयाः ।
तेषामन्तिपदो दिदीपिर इह क्षमायास्तले पाठका,
नानाशास्त्रकृतोवदातयशसः श्रीभक्तिलाभाह्वयाः ॥९॥

चारित्रसार–भावाकर–चारुशुद्धांशुनामकाः शिष्याः ।
पाठक–गणीश–वाचकमुख्यास्तेषामजायन्त ॥१०॥
श्रीभानुमेरुवाचक–जीवकलश–कनककलशनामानः ।
समजायन्त महान्तस्तेषां पट्टे क्रमेणैते ॥११॥

श्रीभक्तिलाभपाठकशिष्याश्चारित्रसारनामानः ।
वेदेन्दुसङ्ख्याविद्यापारीणाः पाठका आसन् ॥१२॥

सिद्धान्तानुगतक्रियाल्यलसत्सम्प्राप्तशोभोदया,
दुर्मिथ्यात्वमतोत्कटोत्पलवनव्याघातसूर्योदयाः ।
तत्पट्टे विलसज्जगज्जनितमुच्चारित्रलक्ष्मीधराः,
श्रीमद्वाचक भानुमेरुगुरवो धाम्यां विरेजुश्चिरम् ॥१३॥

वेदग्रन्थविदन्यशास्त्रजडधीर्नारायणोऽयं पुन–
विज्ञायेति सरस्वती भगवती सम्यग्गुणान्वेषिणी ।
माद्यं यन्मुखपङ्कजेऽखिलगुणैः किं लालसीति वसत्,
तर्क-व्याकरणाद्यनेककठिनग्रन्थावलीपाठकाः ।।१४।।

जगद्वन्द्यास्तेजोपति हि सतत पाठकवरा,
इदानी तच्छिष्या मुनिवरगुणा ज्ञानविमलाः ।
यदाः शीतज्योतिर्धवलिततलसत्क्षोणिवलया ,
स्फुरत्तेजःपुञ्जग्रहगुपमुपः पुण्यवपुपः ।।१५।।

युग्मम् ।

तत्सतीर्थ्या विराजन्ते तेजोरङ्गगणीश्वराः ।
साम्प्रत स्थविरा नित्यं तपोजपपरायणाः ।।१६।।

श्रीज्ञानसुन्दरसुधी-जयवल्लभाद्या,
शिष्या जयन्ति च भुविप्रथितावदाताः ।
विद्वत्तमा वरगुणाः सुवचस्विनश्च,
तेषां स्फुरद्गुणमणिप्रवरोदधीनाम् ।।१७।।

तेषां विख्यातकीर्त्तीना गुरुणामन्तिपदाणुना ।
कृता श्रीवल्लभेनेय शेपसङग्रहदीपिका ।।१८।।

शेपसङग्रहदीपिका-प्रशस्तिः ।

*   *   *

इन प्रशस्तियों के आधार पर यदि इनका वंशवृक्ष बनाया जाय तो इस प्रकार होगा—

- जिनराजसूरि
  - उपाध्याय जयसागर
    - रत्नचन्द्रोपाध्याय
      - भक्तिलाभोपाध्याय
        - चारित्रसारोपाध्याय
          - भानुमेरुउपाध्याय
            - ज्ञानविमलोपाध्याय
              - श्रीवल्लभोपाध्याय
              - ज्ञानसुन्दर
              - जयवल्लभ
            - तेजोरङ्गगणि
          - जीवकलश
          - कनककलश
        - भावसागरगणि
        - चारुचन्द्र वाचक
    - मेघराज[1]
    - सोमकुञ्जर
    - सत्यरुचि

यहां पर संक्षेप में इन मनीषियों का परिचय देना असङ्गत न होगा। अतः प्रत्येक के विषय में कुछ शब्द लिखे जा रहे हैं:—

---

१. मेघराज, सोमकुंजर और सत्यरुचि ये तीनों नाम 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' के आधार पर।

जिनराजसूरि

युगप्रधानाचार्य गुर्वावली के अनुसार श्रमण भगवान महावीर की पट्ट-परम्परा में जिनराजसूरिजी ५४ वें पट्ट पर हुए हैं। आपकी जीवनी के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञात नही होता। स. १४३३ फाल्गुन कृष्णा पष्ठी के दिवस अणहिलपुर (पाटण) मे श्रीलोकहिताचार्य[1] ने इन्हें आचार्य-पद प्रदान कर जिनोदयसूरि का पट्टधर घोषित किया। पट्टाभिषेक का पद-महोत्सव सा. धरणा ने किया था। आपने अपने कर-कमलों से सुवर्णप्रभ, भुवनरत्न और सागरचन्द्र[2] इन तीन मनीषियों को आचार्य-पद प्रदान किया था। आपने सं. १४४४मे चितोडगढ पर आदिनाथ मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। सं. १४६१में देवकुलपाटक (देलवाडा) मे आपका स्वर्गवास

---

१ — आपको जिनोदयसूरि ने आचार्य-पद प्रदान किया था।

२ — सागरचन्द्राचार्य ने, जेसलमेर के चिन्तामणि पार्श्वनाथ के मंदिर में श्रीजिनराजसूरि के आदेश से, स १४५९में जिन विम्बकी स्थापना की थी —

"नवेषुवार्धीन्दुमितेष (१४५९) वत्सरे, निदेशत. श्रीजिनराजसूरे.।
अस्थापयन् गर्भगृहेत्र विम्ब, मुनीश्वरा. सागरचन्द्रसारा. ॥२१॥"

जेसलमेर का तत्कालीन राजा लक्ष्मणदेव राउल सागरचन्द्राचार्य का बहुत कुछ प्रशमक और भक्त था; जैसा कि निम्नलिखित पद्य से जाना जाता है:—

"गाम्भीर्यवत्वात्परमोदकत्वाद्दधार य सागरचन्द्रलक्ष्मीम्।
यत्र स भेजे मदिद कृतज्ञ सूरीश्वरान् सागरचन्द्रपादान्॥ १४॥
(वि० त्रि० प्र०)

आपकी रचित सारचन्द्रटिप्पन प्राप्त है।

हुआ था। भक्तिवश आराधनार्थ देलवाड़ा के सा. नान्हाक श्रावक ने आपकी मूर्ति बनवाकर उनके पट्टधर श्रीजिनवर्धनसूरि से प्रतिष्ठा करवाई थी, जो आज भी देलवाड़ा में विद्यमान है। इस मूर्ति पर निम्नलिखित लेख उत्कीर्ण है :—

> "सं. १४६९ वर्षे माघ सुदि ६ दिने ऊकेशवंशे सा० सोपा सन्ताने सा० सुहडापुत्रेण सा० नान्हाकेन पुत्र वीरमादिपरिवारयुतेन श्रीजिनराजसूरिमूर्तिः कारिता प्रतिष्ठिता श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनवर्द्धन-सूरिभिः।"

आपके करकमलों से प्रतिष्ठित मूर्तियाँ आज भी अनेक नगरों में बड़ी संख्या में प्राप्त होती हैं।

उपाध्याय जयसागर

अर्बुदगिरि (आबु) खरतरवसही (चौमुखजी का मन्दिर) के लेखों से ज्ञात होता है कि आप ओसवाल वंश के दरडागोत्रीय थे। आपकी माता का नाम सोखू था और पिता का नाम था आसराज। आपके भाई श्री मण्डलिक ने[१] प्रस्तुत खरतरवसही (जिनालय) बनवाकर, सं.१५१५ आषाढ कृष्णा प्रतिपदा को जिनभद्रसूरिके पट्टधर जिनचन्द्रसूरि से प्रतिष्ठा कराई। ओसवाल दरडागोत्रीय होने से आप राज-स्थान के निवासी हों यह अधिक सम्भव है। किन्तु यह

१. आबू खरतरवसही के लेखों में मण्डलिक को 'श्री जयसागर-महोपाध्यायबान्धवेन' लिखा है जो अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण उल्लेख है।

ज्ञात नही कि कब और किस स्थान पर जन्म हुआ और कब दीक्षा ग्रहण की । आपने सं. १५०३ में प्रह्लादनपुर (पालनपुर) में शिष्य सत्यरुचि की अभ्यर्थना और शिष्य गणि रत्नचन्द्र की सहायता से पृथ्वीचन्द्रचरित्र नामक कथानक काव्य की सृष्टि की, जिसकी प्रशस्ति से कुछ उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं :—

तत्पट्टशाड्वलवृक्ष:, स्थलकौस्तुभसन्निभः ।
श्रीजिनराजसूरीन्द्रो, योऽभूद्दीक्षागुरुर्मम ॥३॥
तदनु च श्रीजिनवर्धनसूरिः श्रीमानुदैदुदारमनाः ।
लक्षणसाहित्यादिग्रन्थेषु गुरुर्मम प्रथितः ॥४॥
श्रीजिनभद्रमुनीन्द्रा, खरतरगणगगनपूर्णचन्द्रमसः ।
ते चोपाध्यायपदप्रदानतो मे परमपूज्याः ॥५॥
श्रीजयसागरगणिना तेन मया वाचकेन शुचिवाच्यम् ।
पृथ्वीचन्द्रचरित्रं विरचितमुचितप्रविस्तारम् ॥६॥
प्रह्लादनपुरनगरे त्रिबिन्दुतिथिवत्सरे कृतो ग्रन्थः ।
माल्हाश्रावकवसतौ समाधिसन्तोपयोगेन ॥७॥
अभ्यर्थनया सत्यरुचेर्बभूव, साहाय्यकारी गणि-रत्नचन्द्रः ।
उपक्रमोऽय फलवान् ममाभूत्, क्रिया हि साहायक-
मप्यपेक्षया ॥८॥

आपके दीक्षागुरु थे जिनराजसूरि, और विद्यागुरु थे जिनवर्धनसूरि, जो जिनराजसूरि के ही पट्टधर थे। आपको उपाध्याय पद श्री जिनभद्रसूरि ने प्रदान किया था। जिनराजसूरि के करकमलों से निष्पादित आचार्य सागरचन्द्र ने

जिनराजसूरि के पट्टधर आचार्य जिनवर्धन को, जिन पर देवीका प्रकोप हो गया था, गच्छ की उन्नति के निमित्त पट्ट से उतारकर सं. १४७५ मे जिनभद्रसूरि को स्थापित किया था। जिन जिनवर्धनसूरिजी से खरतर गच्छ की पिप्पलक शाखाका प्रादुर्भाव हुआ था, उनके पक्ष से हटाकर अपने पक्ष में लेने के लिये संभवतः सं. १४७५ मे इनको उपाध्याय पद दिया होगा, क्योंकि सं. १४७८ मे स्वप्रणीत 'पर्वरत्नावली'[1] मे जयसागरजी ने स्वयं अपने को उपाध्याय पद से व्यक्त किया है।

आचार्य जिनभद्रसूरि ने जो ग्रन्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ किया था उसमे उ. जयसागरजी का सहायक-रूप से पूर्ण सहयोग था। आपने भी अपने उपदेशों से बहुत से ग्रन्थ लिखवाये, जो जेसलमेर, पाटण आदिके भण्डारों मे आज भी उपलब्ध हैं।

आप साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ थे। आपने कई मौलिक ग्रन्थों, टीकाओं एवं स्तोत्रों की रचना की, जिसमें से कई तो काल-कवलित हो चुके हैं[2] और कई शोध के

१. श्रीखरतरगच्छेशा, श्री जिनराजसूरयः।
तच्छिष्य श्रीउपाध्यायः शिविज्ञो जयसागर ॥
अपिच लिपज्ञगप्तनन्दुमितयुगिगिते परितः परिवत्सरे।
गगनमतनगेत्य समर्थिता, जयतु धर्मकथा जिनशासने ॥
(पर्वं रत्नावली प्रशस्ति)

२. अपने स्तवन, स्तोत्रादि संग्रहकी कई प्रतियां अवलोकन में आई, परन्तु वे सभी अपूर्णरूप में मिली हैं। १ जयचंदजी भंडार बीकानेर, २. पुण्यविजयजी संग्रह, ३. और मेरे संग्रहकी, ये तीनों प्रतियां समकालीन होने पर भी अपूर्ण मिली हैं।

अभाव में अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। वर्तमान में जो कुछ साहित्य उपलब्ध है उसकी तालिका निम्नलिखित है :—

मौलिक रचना

१. पर्व रत्नावली कथा[१] (र. सं. १४७८ पाटण)
२. विज्ञप्ति त्रिवेणी[२] (सं. १४८४ सिन्धुदेश मलिकवाहण-पुर से पाटण श्रीजिनभद्रसूरि को प्रेषित)
३. पृथ्वीचन्द्र चरित्र[३] (स. १५०३ प्रह्लादनपुर, शि. सत्यरुचि के आग्रह से, माल्हा श्रावक की वसति (उपाश्रय) मे)

टीका–ग्रन्थ

४. सन्देहदोलावली लघुवृत्ति[४] (सं. १४९५, श्लो. १५५०, इसका प्रथमालेखन शि. सोमकुञ्जर ने किया था और सशोधन स्वयं आ. जिनभद्रसूरि ने[५])

---

१ इसकी १६वी शतीकी लिखित एक प्रति मेरे सग्रहमें है।

२. जैन आत्मानद सभा भावनगर से प्रकाशित ,मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित,

३. जयपुर खरतरगच्छ ज्ञानभण्डार में प्राप्त।

४. प० हीरालाल हसराज जामनगर द्वारा प्रकाशित

५. देखिये,

जैनेन्द्रागमतत्त्ववेदिभिरभिप्रेतार्थकल्पद्रुभि,
मद्‌भिः श्रीजिनभद्रसूरिभिरियं वृत्तिर्विशुद्धिकृता।

५. गुरुपारतन्त्र्य वृत्ति
६. उपसर्गहर स्तोत्र वृत्ति
७. भावारिवारणस्तोत्रवृत्ति[1]
८. रघुवंश सर्गाधिकार[2]
९. नेमिजिनस्तुति टीका[3]

भाषा–साहित्य

१०. जिनकुशलसूरि छन्द (सं. १४८१ मलिकवाहणपुर)		
११. वयरस्वामी रास पद्य ३६ (सं. १८८९ जूनागढ)		
१२. गौतमरास	पद्य	१२
१३. नगरकोट महातीर्थ चैत्य परिपाटी	,,	१७
१४. अष्टापद तीर्थ बावनी	,,	५३
१५. चौवीसी		
१६. चैत्य परिपाटी	,,	२१
१७. वीतराग वीनती	,,	१५
१८. वीतराग स्तोत्र	,,	१९
१९. शत्रुञ्जय आदिनाथ वीनती	,,	१३
२०. शान्तिनाथ वीनती (सं. १५०३)	,,	११

तद्वत्तार्किकचक्रिभि श्रुतपयाध्यन्यैर्महावादिभि,
प्रामाण्यं गमिता विचार्य च तपोरत्नैः पुरा वाचकै.।।
सोमकुजर नामास्ति, विनेयो विनयी हि न ।
न्यधित प्रथमादर्शो, ग्रन्थमेनमनाकुल: ॥
विक्रमतः पचनवत्यधिकचतुर्दशशतेषु वर्षेसु।
ग्रथितेयं श्लोकैरिह, पञ्चदशशतानि सार्द्धानि।।

१. प० ही० ह० द्वारा प्रकाशित, २. तपागच्छ भंडार जेसलमेर, पत्र ३.
३ पाटणभंडार पत्र ६.

स्तोत्र-साहित्य

आपने अपने जीवन में अनेक तीर्थयात्राएँ की थीं, जिनका वर्णन 'विज्ञप्तित्रिवेणी' जैसे आलङ्कारिक ग्रन्थो में पाया जाता है। आपकी शिष्य परम्परा भी विपुल थी, जिनमें उ० रत्नचन्द्र, पं. मेघराज गणि, सोमकुञ्जर[1], स्थिरसंयम, सत्यरुचि गणि, प. मतिशील गणि, पं. हेमकुञ्जर, पं. समयकुञ्जर, कुलकेशरि, अजितकेशरी आदि मुख्य थे[2]।

उपाध्याय रत्नचन्द्र

उ० जयसागर प्रणीत 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' में जिसकी रचना सं. १४८४ में हुई थी, रत्नचन्द्र को 'क्षुल्लक[3]' पद से अभिहित किया है और आगे चलकर "रत्नचन्द्रक्षुल्लकं चाधीयमानस्वाध्यायं शब्दब्रह्मव्याकरणमधिजिगापयिषन्तः[4]" से ज्ञात होता है कि उपाध्यायजी स्वयं इनको व्याकरण शास्त्र का अध्ययन करवा रहे थे। इस क्षुल्लक (नवदीक्षित) विशेषण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सं. १४८४ के आस-पास ही आपकी दीक्षा हुई होगी। आपने क्रमशः स्वशास्त्र और परशास्त्र का अध्ययन कर अच्छी विद्वता प्राप्त की। पृथ्वीचन्द्र चरित्र की प्रशस्ति के ६वे पद्य के अनुसार 'साहाय्यकारी गणिरत्नचन्द्रः' से व्यक्त

१. आपकी प्रणीत 'खरतरगच्छपट्टावली' प्राप्त है।

२ उपाध्यायजी के सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये देखें — विज्ञप्ति त्रिवेणी की प्रस्तावना

३ देखें, विज्ञप्ति त्रिवेणी पृ० १३

४ देखें, वि० त्रि० पृ० ३१

होता है कि चरित्र की रचना में आप अपने गुरु के सहायकारी थे और उस समय तक उन्हें 'गणि' पद भी प्राप्त हो चुका था। विशेष योग्यता प्राप्त करने पर तत्कालीन गणनायक श्रीजिनभद्रसूरि के पट्टधर आचार्य श्रीजिनचन्द्रसूरि ने आपको 'उपाध्याय' पद प्रदान किया था। पाटन वाडीपुर-पार्श्वनाथ मन्दिर के भण्डार में स्थित सिद्धहेम-व्याकरण की लेखन प्रशस्ति[५] 'श्रीरत्नचन्द्रोपाध्यायानां' से स्पष्ट है कि सं. १५२१ के पूर्व ही आपको उपाध्याय पद प्राप्त हो गया था।

उ० भक्तिलाभ—भानुमेरु

उ० रत्नचन्द्र के शिष्य उपाध्याय भक्तिलाभ हुए। इनके संबंध में कोई विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं होते। आपके लिये सं. १५३२ में प्राकृतव्याकरण लिखा गया था, जिसकी लेखन पुष्पिका[६] इस प्रकार है:—

"सं. १५३२ वर्षे श्रीजयसागरमहोपाध्याय-शिष्य-रत्नचन्द्रोपाध्यायराजानामुपदेशेन शिष्य-भक्ति-

---

५ "सं० १५२१ वर्षे सीरोही वास्तव्य उकेशवंशीय माल्हूगोत्रीय साह महणा भार्या सोनलदे पुत्र साह ईला सुश्रावकेण भ्रातृ मेला चापा पद्मा जिनदास प्रमुखपरिवारसहितेन श्रीखरतरगच्छे श्रीजयसागर-महोपाध्याय-शिष्य-श्रीरत्नचन्द्रोपाध्यायानामुपदेशेन श्रीसिद्धहैमलक्षणबृहद्-वृत्तिरष्टाध्यायप्रमितग्रन्थोऽलेखि॥"

देखें वि० त्रि० प्र० पृ० ७८

६. पाटण संघ के भण्डार में सुरक्षित है।

लाभाय [पठनार्थं] स्तम्भतीर्थवास्तव्य श्रीमालवंशे फोफलियागोत्रे श्रे. वाछा भा. देल्हू पुत्र लाखाकेन भार्या लीलादे जागा जेसिघादिपरिवारेण स्वपुण्यार्थं लिखापितम् ॥"

इससे यह निश्चित है कि आपकी भी दीक्षा सं. १५३२ के पूर्व हो चुकी थी। आप भी उपाध्याय-पदधारी थे, जैसा कि उपाध्याय ज्ञानविमल द्वारा प्रणीत शब्द-प्रभेदवृत्ति प्रशस्ति के १५वें पद्य से ज्ञात होता है :—

तच्छिष्या सकलाचलावलयसत्प्रख्यातकीर्त्युच्चयाः,
सिद्धान्तोदधिगाहनैकरसिकाः कारुण्यपाथोधयः।
मद्भाग्योदयदीप्तपाठकपदश्रीराजिता रेजिरे,
दर्पिष्ठप्रतिवादिमानमथनाः श्रीभक्तिलाभाभिधा ॥१५॥

आपकी निम्नलिखित रचनायें अभी तक प्राप्त हुई हैं —

१. बालशिक्षा व्याकरण[1]
२. लघुजातक टीका (सं. १५७१ बीकानेर)
३ कल्याणवीच्य[2]
४. वरकाणा पार्श्वनाथ स्तव

[1] जेसलमेर संघ भंडार, डा ५५ नं १०८३ पत्र ८ अपूर्ण, जिसका प्रारम्भ इस प्रकार है —

प्रणम्य स्वगुरून् भक्त्या, ध्यात्वा देवीं सरस्वतीम्।
हितार्थं भक्तिलाभेन, बालशिक्षा विधीयते॥

[2] मेरे संग्रह में

५. जीरावला पार्श्वनाथ स्तव
६. सीमन्धर स्तव[1] (सफलसंसार)
७. रोहिणी तप स्तव
८. जिनहंससूरि गुरुगीतम्[2]

आपके दो प्रधान शिष्यों का उल्लेख मिलता है, प्रथम उपाध्याय चारित्रसार और दूसरे गणि चारुचन्द्र। प्रधान शिष्य उ. चारित्रसार के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेखनीय सामग्री प्राप्त नहीं है। केवल शब्दप्रभेदवृत्ति प्रशस्ति पद्य १६वें के आधार पर ही यह निश्चित है कि आप उपाध्याय पद धारक थे। यथा :—

सर्वप्राज्ञवरा गुणोत्करसदृग्वाक्सूरवाराग्रणी,
प्रागल्भ्यप्रवरास्तपो विधिपराः सद्ब्रह्मचुदारासयाः।
तेषामन्तिपदो बभूवुरजिता दृप्यत्प्रवादिव्रजैः,
श्रीमत्पाठकनेश्वरा मुनिवराश्चारित्रसाराह्वयाः ॥१६॥

द्वितीय शिष्य वाचक चारुचन्द्र के जीवन के सम्बन्ध में तो सामग्री प्राप्त नहीं है; किन्तु आपकी निम्नलिखित रचनायें ज्ञात हुई हैं :—

१. उत्तमकुमार चरित्र (१५७२ बीकानेर)
२. हरिबल चौपाई (सं. १५८१)
३. नन्दन मणियार संधि (सं. १५८७)
४. रतिसार केवली चतुष्पदी

---

१. अप्रकाशित. २. ऐ. जै. का. सं. में प्रकाशित.

५. महाबल मलयसुन्दरी रास.
६. पञ्चतीर्थी स्तवन. (सं. १५६८)
७ भाषा विचार प्र० सावचूरि.
८. युगमन्धर गीत.

आपके शिष्य वाचनाचार्य ज्ञानविमल के गुरुवर उपाध्याय भानुमेरु हुए। आश्चर्य है कि आपके शिष्य ज्ञानविमल और प्रशिष्य श्रीवल्लभ ने केवल श्रद्धापूर्ण स्तुत्यात्मक पद्यों के अतिरिक्त अपने साहित्य में किञ्चित् भी उल्लेख नही किया। वे केवल स्तुति करते हुए कहते हैं—

वैराग्यं प्रबलं शमेऽतिविमलः शास्त्रौघवार्ताद्भुता,
सिद्धान्तैकरुचिर्मनोरमतमा भव्योपकारः परः।
चारित्रं च जगत्यनुत्तरतरं तत्पट्टशोभावहा,
येषां श्रीयुतभानुमेरुगुरवस्ते वाचका भ्रेजिरे ॥

आपकी किसी साहित्य सर्जना का भी पता नही चलता। आपके प्रधान दो शिष्य थे—एक वाचनाचार्य ज्ञानविमल और दूसरे थे तेजोरङ्ग गणि।

वाचनाचार्य ज्ञानविमल

ज्ञानविमलजी की 'विमल' नन्दी एवं स्वरचित शब्दप्रभेदवृत्ति (र. स. १६५४) को देखते हुए (यु. श्रीजिनचन्द्रसूरि के नन्दिपत्र के अनुसार छट्ठी नन्दी 'विमल' है, तो) नन्दी क्रमानुसार संभव है कि आपकी दीक्षा १६१५ और १६१८ के मध्य में हुई हो। आपके

शिष्य श्रीवल्लभ द्वारा रचित 'शिलोञ्छ व्याख्या' (र. सं १६५४) और स्वयं रचित शब्दप्रभेदवृत्ति मे "श्रीज्ञानविमल-पाठक" पाठक पद को देखने से यह तो स्वतः सिद्ध सा हो जाता है कि सं. १६५४ के पूर्व ही आप उपाध्याय पद से अलङ्कृत हो चुके थे । आपको पाठक पद तत्कालीन गच्छ-नायक युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरि ने ही दिया था ।

साहसाङ्कचरितकार[1] श्रीमहेश्वर कवि प्रणीत 'शब्दप्रभेद' नामक कोष पर आपने सं. १६५४ आषाढ शुक्ला द्वितीया को विक्रमनगर (बीकानेर) नरेश श्रीरायसिंहजी के विजय राज्य मे ३७०० ग्रन्थाग्रन्थमय विस्तृत टीका पूर्ण की । इसमें उनके शिष्य श्रीवल्लभ का पूर्ण सहयोग भी था और इसका प्रथमादर्श आपके शिष्य श्रीज्ञानसुन्दर और जयवल्लभ ने लिखा था, जैसा कि प्रशस्ति से ज्ञात होता है :—

अस्मदन्तिषदो गाढसाहाय्यात् सिद्धिमागता ।
विद्वच्छ्रीवल्लभाह्वस्य युक्तायुक्तविवेचिनः ।। २० ।।

*   *   *

प्रथमादर्शे लिखिताऽस्मच्छिष्य ज्ञानसुन्दराह्वेन ।
जयवल्लभगणिनाऽपि च विचारविज्ञेन भक्तेन ।। २३ ।।

---

१ श्रीसाहसाङ्कचरितप्रमुखासु गद्यपद्यप्रबन्धरचनासु वितन्वतैव ।
व्युत्पत्तिमुज्ज्वलतमा परमा च शक्तिमुल्लासिता जगति येन सरस्वतीयम ।।

श्रीमद्विक्रमनगरे राजच्छ्रीराजसिंहनृपराज्ये ।
सल्लोकचक्रवाकप्रमोदसूर्योदये सम्यक् ॥२४॥
चतुराननवदनेन्द्रियरसवसुधासम्मिते लसद्वर्षे ।
श्रीमद्विक्रमनृपतोऽतिक्रान्तोऽतीव-कृतहर्षे ॥२५॥
शुभोपयोगे शुभयोगयुक्ते, वरे द्वितीयादिवसेऽतिशुद्धे ।
आषाढमासस्य विशुद्धपक्षे, पुष्यर्क्षसयुक्तगभस्तिवारे ॥२६॥

* * *

अस्यास्त्रीणि सहस्राण्यधिकानि सप्तभिः शतैः ।
इत्येव प्रमितिर्ज्ञेया, श्लोकमानेन निश्चिता ॥२७॥

* * *

इस टीका को देखते हुए ज्ञात होता है कि पाठक जी की प्रतिभा विशाल थी । व्याकरण और कोष साहित्य पर तो उनका एकाधिपत्य सा नजर आता है । स्थान-स्थान पर प्रायः सभी व्याकरणों और अनेकार्थादि कोषों के उद्धरण प्रचुर-परिमाण में दृष्टि गोचर होते हैं । शब्दप्रभेद के प्रारम्भिक मङ्गलाचरण पद्य की भूमिका देखने से ही उनके वैयाकरणत्व का परिचय प्राप्त हो जायगा —

"इह हि प्रेक्षापूर्वकारिणा महाकवीना ग्रन्थारम्भे यथाभीष्टदेवतासंस्तवन-मभ्युदयनिदान तथैवोत्कृष्टप्रशब्दग्रहण सकलमङ्गलनिदानमस्तीति स्वमनसि निधाय श्री मन्महेश्वर-सचिव 'प्रशब्द' आदौ प्रयुञ्जन । उक्तञ्च —

प्रशब्दश्चाथ शब्दश्च, द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा ।
कण्ठं भित्वा विनिर्यातौ, तस्मान् मङ्गलवाचकौ ॥

इति । यथा च श्रीकात्यायनाचार्याः नित्ये शब्दार्थसम्बन्ध इति वक्तव्ये 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धः' इत्युक्तवन्तः । यथा श्रीपाणिन्याचार्या अपि पाणिनीयव्याकरणादौ आदैच् वृद्धिः इति वक्तव्ये वृद्धिशब्दमादौ प्रयुज्य 'वृद्धिरादैच्' इत्यभिहितवन्तः । यथा कुमारा अपि वर्णसमाम्नायः सिद्ध इति वक्तव्ये कलापव्याकरणादौ 'सिद्धो वर्णसमाम्नायः' इति प्रयुक्तवन्तः । यथा इन्द्रा इन्द्रव्याकरणादौ रूढेरनुक्तानां सिद्धि इति वक्तव्ये 'सिद्धिरनुक्तानां रूढेः' इति रचितवन्तः । यथा श्रीहेमचन्द्राचार्या अपि सिद्धहेमचन्द्रव्याकरणादौ स्याद्वादात् सिद्धिरित्यभिधेये 'सिद्धिः स्याद्वादात्' इति कथितवन्तः । यथा श्रीहेमशब्दोपदेव विद्वांसोऽपि मुग्धबोधव्याकरणादौ शब्दैः शमिति वक्तव्ये 'शं शब्दैः' इति कृतिवन्तः । यथा श्रीशाकटायनाचार्याः स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्त्यादौ 'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादि सर्ववेदसाम्' इति मङ्गलार्थं श्रीशब्दप्रयोगं सन्दृब्धवन्तः । यथा श्रीअनुभूतिस्वरूपाचार्या अपि सरस्वतीं प्रक्रियां ऋजुकुर्वाणाः 'प्रणम्य परमात्मानं' इति मङ्गलार्थं प्रशब्दप्रयोगं धृतवन्तस्तथा धीमन्तः श्रीमहेश्वर कवयोऽपि शब्दप्रभेदनामा ग्रन्थादौ प्रशब्दलक्षणं मङ्गलं हृधवधार्य प्रशब्दप्रयोगं न्यस्तवन्त इत्यवमेयम् ।

कवि – परिचय

उपाध्याय श्री वल्लभ कहाँ उत्पन्न हुए? किस संवत में उनका जन्म हुआ? उनका बाल्यपन का क्या नाम था? उनके माता-पिता का क्या नाम था? उन्होंने

कब दीक्षा ग्रहण की ? और कब उनका स्वर्गवास हुआ ? इत्यादि बातों का तो कुछ भी पता नहीं लगता। उनके ग्रन्थों एवं तत्कालीन अन्य रचनाओं से इस सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। किन्तु इनके मौलिक एवं टीका ग्रन्थों के अवलोकन करने से उपाध्याय जी के विषय में जिन कुछ ज्ञातव्य बातों का पता चलता है, वे उपस्थित की जा रही हैं :—

जन्मस्थान

अभिधान चिन्तामणि नाममाला की सारोद्धार नाम्नी टीका में एवं हैमलिङ्गानुशासनविवरण की दुर्गपदप्रबोधवृत्ति में कई स्थलों पर शब्दों के पर्याय देते हुए 'इति भाषा' 'इति प्रसिद्धे' से जो प्रचलित प्रान्तीय शब्द प्रयुक्त किये हैं, उनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वे किस प्रान्त के निवासी थे। उदाहरण के लिये यहाँ कुछ शब्द दिये जाते हैं :—

उद्योत = उजवाला, नावडा
मरीचिका = झाझूआ
पारिपार्श्वक = पासवाण
वर्षा = वरिखा
तत्काल = तिवारइज
कादम्बिनी = कलाइणि
जलकण = छांटट छूंट
आह्वान = तेडण, बुलावण, निहुंतरा

विवाद = झगड़ा
अन्योन्यविरुद्धवचन = अण-मिलता वचन
पृष्ठमांसादन = चाडी
असद्दोषारोपण = अणहूतो दोष
उद्घुष्ट = पोपणक
अशुभवचन = मूंडा वचन
प्रलाप = झखण

हल्लीसक = घूमरी
वादित्रादि = वाजा, रवाव, खूंटी, खीली, ढोल, वरघू, नफेरी, ढोलादिक बजावणरा डांडिया,
मनाक् स्मित = मुरकणउ
महतिहास = खड खड हंसणो
स्वपक्षभय = ग्रामियांरउ भय
लप्सिका = लापसी
अवपूजित = ऊकरडओ
उपालम्भ = ओलम्भओ
संस्तव = ओलखाण, पिछाण
भक्ष्यपिण्ड = कवा
कूर्पास = कांचली
धान्यागार = कोठार
निचुलक = उतरणा, खाट, पछेवड़ी
भित्तिनिखातकीलक = घोड़लओ, खूंटा
शमीवृक्ष = खेजड़ी
शमीफल = सांगरी
सन्दर्भ = गूंथणउ
चुलुक = चलू
वस्त्र = लूगड़ा

इन शब्दों को देखने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि कवि का जन्म एवं बाल्यकाल राजस्थान प्रान्त में ही व्यतीत हुआ है । राजस्थान प्रान्त में विशेष कर उपरि उल्लिखित 'मुंडावचन, ऊकरडओ, ओलंभओ, कवा, कांचली खेजड़ी, सांगरी, लूगड़ा' आदि शब्दों को देखते हुए वे जोधपुर राज्य के ही निवासी हों, अधिक संभव है । यहां यह संभावना की जा सकती है कि दीक्षा के पश्चात् इनका जीवनकाल राजस्थान में अधिक व्यतीत हुआ हो और यहां निरंतर जन-सम्पर्क के कारण उनकी भाषा में देशी शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ हो, परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि जिन घरेलू शब्दों का व्यवहार उन्होंने

किया है वे बाल्यपन के संस्कार के बिना भाषा में नही आ सकते ।

दीक्षा

खरतरगच्छालङ्कार[१] आचार्यप्रवर श्रीजिनमाणिक्य-सूरि[२] के पट्टधर शाह अकब्बर द्वारा प्रदत्त युगप्रधान

---

१ इनका खरतरगच्छ का होना निम्नलिखित प्रमाणोंसे सिद्ध है —

तत्रासीद् विबुधाग्रणीर्गणगुरुश्रीवर्द्धमानान्तिषद्,
सूरीन्द्र स जिनेश्वरो दशगणाशोस्यामिते सवति।
जित्वा श्रीअणहिल्लपत्तनपुरे दुर्वादिनो दुर्लभ —
क्ष्माभाऱ्याद्धिकद वर खरतरेत्याख्य यत प्राप्तवान् ॥ २ ॥

अ चि ना. वृ प्र.

श्रीमति खरतरगच्छे, स्वच्छेभूवस्याङ्गवृत्तिकरा ।
श्रीमदभयदेवाख्या, आचार्या लक्षगुणदक्षा " १ ॥

शी ना टी. प्र

श्रीमत्खरतरगच्छे चक्रे यै स्थानाङ्गवृत्ति ।
श्रीमन्तोऽभयदेवाचार्या ख्याता विरेजुस्ते ॥ १ ॥

स म टी प्र

श्रीजिनेश्वरसूरीन्द्रैरिख्यातिं प्रापिते क्षितौ।
गच्छे खरतरे स्वच्छे, वर्द्धमाने मुमुक्षुभि । १ ॥

दु प्र. प्र

२ इनका स्मरण उपाध्याय श्रीकनकसोम ने कई स्थानों पर किया है —

खरतरगणमल्लीधरमुख्यागलरजनीपतिप्रभाराणाम् ।
नम्रालंकारणगणा, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् । १ ॥

अ म्न वृ. प्र

विरुदधारक आचार्य श्री जिनचन्द्रसूरि[१]ने अपने ५८ वर्ष

विख्यातयशसस्तेषां पट्टक्रमेण सूरयः।
श्रीमच्छ्रीजिनमाणिक्याचार्याः क्ष्मायां विरेजिरे ॥ ३ ॥

श्री. ना. वृ. प्र

श्रीजिनमाणिक्यसूरि का जन्म सं. १५४९ में हुआ। पिता कूकड़ चोपड़ा गोत्रीय संघपति राउलदेव थे और माता थी रयणादेवी। सं. १५६० में ११ वर्ष की अल्पायु में उन्होंने आचार्य जिनहंससूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। सं. १५८२ माघ शुक्ल पञ्चमी को गच्छनायक जिनहंससूरि ने उन्हें आचार्य पद प्रदान किया। सं. १५९३ माघ शुक्ला प्रतिपदा गुरुवार को उन्होंने विक्रमपुर (बीकानेर) के मंत्री कर्मसिंह द्वारा निर्मापित नमिनाथ चैत्य की प्रतिष्ठा की। तत्कालीन गच्छ के साधुओं में शिथिलाचार देखकर वे क्रियोद्धार का विचार कर रहे थे। इसीलिये वे देरावर में 'दादा' की यात्रा करने गये और वहां से जैसलमेर आते हुए मार्ग में ही सं. १६१२ आषाढ शुक्ला ५ को उनका स्वर्गवास हो गया था।

१. इनका श्रीवल्लभजी ने श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है:—

एवं सूरिपरम्परागत इह श्रेष्ठे गणे दीपिते,
स श्रीमज्जिनचन्द्रसूरिसुगुरुश्चारित्रपात्रिश्रभृत्।
तेजः श्रीमदकब्बराभिधनृपः श्रीपातिसाहिर्मुदा —
वादीधत्सु युगप्रधान इति सन्नाम्ना यथार्थेन वै॥४॥

श्रीमन्त्रीश्वरकर्मचन्द्रविहितोद्यत्कोटिटङ्कव्ययं,
श्रीनन्दयुतसत्पूर्वकः युगवरा यस्मै ददौ स्व पदम्।
श्रीमल्लाभपुरे दयादृढमतिश्रीपातिसाहाग्रहा —
दन्याच्छ्रीजिनचन्द्रसूरिसुगुरुः सत्कीर्तिजेथ्यसाः॥५॥

श्र, वि. ना. वृ. प्र.

विशद आचार्य काल में ४४—नन्दियों[1] (नामान्तपदों) की स्थापना की थी। उसमें २६वीं संख्या की नन्दि 'वल्लभ' नाम की है, जिस में १६वीं नन्दि 'सिंह' की स्थापना सं १६२३ में हो चुकी थी। अतः अनुमानतः 'वल्लभ' नन्दि की स्थापना सं. १६३० एवं १६४० के मध्यकाल में हुई होगी। इस अनुमान का मुख्य कारण एक यह भी है कि श्रीवल्लभ ने शीलोञ्छनाममाला पर सं. १६५४ चैत्र कृष्णा सप्तमी को नागोर में वृत्ति की रचना पूर्ण की। किसी भी ग्रन्थ पर लेखनी चलाने के लिये, विशेषकर व्याकरण एवं कोष पर विशेष अध्ययन और योग्यता की अपेक्षा है। अतः शीलोञ्छनाममाला जैसी पुस्तक पर वृत्ति रचने के लिये दीक्षा के पश्चात् १५-१८ वर्ष का समय तो उन्हें अवश्य ही तैयारी के लिये लगा होगा। यहां यह संभावना भी की जा सकती है कि दीक्षापूर्व ही वे संस्कृत साहित्य के विद्वान हों। पर प्रायः जैन-समाज में देखने में यह आता है कि

१६७० आश्विन कृष्णा द्वितीया को बिलाड़ा में उनका स्वर्गवास हुआ था। सं. १६१७ विजयदसमी के दिवस पाटण में आचार्य जिन वल्लभसूरि प्रणीत पौषधविधिप्रकरण पर ३५५४ श्लोक परिमाण की उन्होंने विशद टीका की रचना की थी। विशेष परिचय के लिये देखें, श्रीअगरचन्द्र भँवरलाल नाहटा द्वारा लिखित "युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि"

१. देखें युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि का प्रथम परिशिष्ट.

गार्हस्थ्य-जीवन में रहे हुए इने-गिने ही संस्कृत-साहित्य के विद्वान प्राप्त होते हैं। हाँ, जैन धार्मिक साहित्य एव कर्म सम्बन्धी साहित्य के उच्चकोटि के मर्मज्ञ अवश्य मिलेंगे। अत. यह अनुमान उपयुक्तसा ही प्रतीत होता है कि युगप्रधान ने १६३० और १६४० के बीच मे आपको दीक्षा प्रदान कर श्रीवल्लभ नाम प्रदान किया हो।

श्रीवल्लभ-प्रतिभा-परिचय

श्रीवल्लभ की प्रतिभा बहुमुखी थी। उनमें अगाध पाण्डित्य था और था उनका संस्कृत एव प्राकृत साहित्य पर पूर्ण अधिकार। वैसे तो उन्होंने किन किन शास्त्रों का अध्ययन किया और किनके पास किया, ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु आपकी गुरु 'पाठक' परम्परा एक विद्वत्परम्परा थी एवं आपके गुरु स्वसाहित्य और पर-साहित्य के निष्णात थे। इसलिये यह अनुमान किया जा सकता है कि विद्याभ्यास आपने अपने श्रीगुरु-चरणों में ही रहकर किया होगा।[१]

१ देवग्रन्थविलम्बनान्नवनदीनांगवणीय पुन-
विज्ञायेति सरस्वती भगवती सम्यग्गुणान्वेषिणी।
गाढं यन्मुनयस्सुवेसिलगुणे त्रि लालसीति जगत्,
तत्सम्मारमपाठनेश्वरजिनपत्यावली पाठका ॥१४॥
(जै. ग. वृ. प्र.)

आपके टीका-ग्रन्थों के अवलोकन से यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि आप केवल जैन-साहित्य के ही विद्वान नहीं थे, अपितु समग्र संस्कृत साहित्य के जानकार थे। संस्कृत-साहित्य में टीकाकारों की बहुलता रही है किन्तु इनके समान टीकाकार विरले ही हुए हैं। एक अभिधानचिन्तामणिनाममाला की टीका में ही लगभग १७० ग्रन्थों के उद्धरण – वे भी एक दो नहीं – किन्तु सैंकड़ों की संख्या में देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि आपने इन इन विषयों के निम्नलिखित ग्रन्थों का भली-भांति अवलोकन अवश्य ही किया था। उद्धृत व उल्लिखित ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है.—

व्याकरण — सिद्धहेमशब्दानुशासन, बृहद्वृत्ति, लघुन्यास[1], न्यास[2], ढुण्ढिका[3], धातुपारायण (हेमचन्द्रीय), हैमलिङ्गानुशासन और स्वोपज्ञ टीका, प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, देशीसूत्र टीका सहित[4],

---

१ निवृत्त्यर्थं इति द्वितीय ग श्रवण न स्यात् इति न वाच्यम्, रूपमेव हि भिद्यते न श्रुतिः, शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वात् इति, पूर्वन्यासापेक्ष. इति, निवृत्तमिति लघुन्यास. (अ. २४,१)

२. गर्भिणी पुंवद्भावे सप्तमाध्याय-चतुर्थपादवृत्तिपञ्चाशत्तम-सूत्रेण 'सयोगादिन' इत्यन्तलोपप्रतिषेधः, गर्भवती स्त्रीवचनात्तु इकणो-प्राप्तेरौत्सर्गिकवचनाण्, इति न्यासकारः (अ १३०,१)

३. 'दणु' शल्कादिधान्यविशेष, इति तद्धितकूटी। शम्बशब्द स्तिर्यग्यं, इति तद्धितकूटी।

४. यद्देशीसूत्रे 'सिङ्डोसल्लहपिशल्ला' इति, शलभः पिशाचश्च इति तट्टीका।

पाणिनीय व्याकरण, पाणिनीय शिक्षा, महाभाष्य[१], काशिकाकार[२], शाकटायन[३], सारस्वत, कविकल्पद्रुम (वोपदेवीय), कृष्ण पण्डित कृत प्रक्रिया कौमुदी वृत्ति, माधवभट्ट, उज्ज्वलदत्त[४], गणरत्नमहोदधि टीका सह, न्यायमञ्जूषा टीका सह, दुर्गलिङ्गानुशासनवृत्ति[५], चन्द्राचार्य[६], श्रीकण्ठपुरुषोत्तमदेवादय:[७]. आदि ।

कोष — अमरकोष टीका सहित, क्षीरस्वामी (अमरकोष टीकाकार), अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका सहित, अनेकार्थ संग्रह (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, श्रीजिनभद्रसूरिपादा· (अपवर्ग नाममाला), अमरमाला[८],

कात्यः[१], गौडः[२], देशीनाममाला[३] टीका सहित, धनपालः[४] ध्वनिमंज्जरी (एकाक्षरी नाममाला) निघण्टुशेषनाममाला[५] (हेमचन्द्रीय) टीका सहित, पुरुषोत्तमदेव[६], भागुरि[७], महेश्वर ( )

---

१. यत्कात्य —अमात्याद्याश्च पौराश्च, सद्भिः प्रकृतयः स्मृता। (अ. ६०–१), कात्यस्तु —प्रच्छन्नमन्तर्द्वारं यत्पक्षद्वारं तदुच्यते। (अ ६९–२)

२. गौडस्तु —मुक्ताशुद्धौ पुमांस्तारो, नताङ्गक्षिमध्ययो। (अ ४६–१), यद्गौड —स्त्रीनपुंसकयोः क्रोडा-वक्षसि स्यात् किरौ पुमान्। क्रोडे पीनपयोधरे मृगदृशः कः क्रीडितु नेच्छति। (अ.४९–१) आदि

३. यद्देशी – मादिषु शब्देषु अनेकार्थेषु मड्डा बलत्कार आणासु मड्डा बलात्कार आज्ञा च इति तट्टीका —एकार्थेषु पदेषु बलकारम्मि पिणाओ इति। (अ.६९–२)

४ धनपाल यदाह —क्रव्यादायातवो यातुधान, इति (अ १४–१), धनपालस्तु —आसदी विष्टर पीठमासनमिति। (अ ५७–२)

५ पटोले तु पाण्डुफलः, कुलकः कर्कशच्छदः। राजीफलः कफहरो, राजमान्योऽमृताफलः। इति हैमनिघण्टुशेषः।

६ कूर्पासकस्त्वर्द्धचोलक, इति पुरुषोत्तमदेव। (अ ५६–२), यदाह–पुरुषोत्तमदेवः —प्रेतादिभिर्गृहीतो यः, स आविष्टो ग्रमत् वहिरिति। (अ.३७–१)

७. भागुरिस्तु —कुकुंदरौ समाचष्टे, जनो जघनकूपकौ, इति (अ. ४९–२)

टीका सहित, मालाकार[१], लिङ्गयसूरि[२], व्याडि:[३], विश्व, विश्वशम्भु (एकाक्षरी नाममाला), वाचस्पति, वैजयन्ती, शाश्वत[४], श्रीधर टीका सहित, श्रीभोज[५], शेषसंग्रह (हेमचन्द्रीय), सुधाकलश (एकाक्षरी नाममाला) सौभरि (एकाक्षरी नाममाला), हलायुध टीका सह, हारावली आदि.

लक्षण — काव्यादर्श, काव्यशिक्षा, भानुदत्त (रसतरङ्गिणी) विदग्धमुखमण्डन,

छन्द — छन्दोनुशासन, छन्दश्चूडामणि[६], वृत्तरत्नाकर,

---

१ मालाकारस्तु — मृत्वत्सा अवद्गर्भा, इति (अ ११५-२), मालाकारस्तु — चुम्बी विपरीतास्य कृपणा, इति। (अ. ९८-१)

२ श्रीलिङ्गयसूरिस्तु — धातकीपुष्पमिश्रगुडसहितधान्याम्लकृतमद्यनामधेयं, गवयेधुरसकृतमद्यनाम शीधु, तालवेधुरसकृतमद्यनाम आसव, इति त्रीण्यपि भिन्नानि। (अ. ८१-१), लासादिकरणार्थं वृत्तस्य घटपाल्स्य नाम्नी, इति लिङ्गयसूरि। (अ. ९१-१), आदि

३ यद्व्याडि: — अन पितृमधर्मा य कल्पानाहो मनोजव। (अ ३७-१)

४ गन्धिपत्रवर्तुलपाणौर्वृन्ताल्या च गन्धिनि, इति शाश्वत (अ. ११५-२)

५ दुर्दिनम् इति श्रीभोज। (श्री ५८-१)

६ वैश्विकविक्रान्त, तम्पदान्त वेद — स्यौ स्यौ वैश्विकवम्। (अ.६७-१) दुर्भाग्य है कि आचार्य हेमचन्द्र का यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

काव्य — रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध टीका सहित, नैषध चरित टीका सहित, नरहरि[१] (नैषधटीकाकार), मेघदूत टीका सहित, द्व्याश्रय काव्य (हेमचन्द्रीय) टीका सहित (टी. अभयतिलकोपाध्याय), महाभारत[२], हलायुध काव्य टीका सहित, रूपमाधवीय[३], भट्टिः, गीतगोविन्द, आदिनाथ चरित्र (हेमचन्द्रीय), नेमिनाथ चरित्र (हेमचन्द्रीय), चम्पू[४], त्रिशतीकार[५], सौन्दर्यलहरी, महिम्नस्तोत्र[६] टीका सहित, वोपालितः[७], आदि.

---

१ जरद्भिर्भृङ्गिरक्षुपन्नग, इति हर्षं, सरक्तशिखमुखा, पन्नगा — मपशिलगन्न तम्। इति नरहरि. (११७-१), उद्भिदास्तु गुल्माद्याः इति नरहरि (अ. १२४-१)।

२ यद्भारतम् — पत्त्यश्वौस्त्रिगुणै सर्वै., क्रमादाख्या यथोत्तरम्। सेनामुख गुल्मगणो, वाहिनी पृतना चमूः। अनीकिनीदशगुणा-माहुरक्षौहिणी बुधा.। इति (दु. ३७)

३ तथा रूपमाधवीये — स्वरि क्वमपि न चाल रूपगवपरभाजो, भपुव उरकलाडयमीयते दृश्यते वा। इति

४. मलीगन्धिकप्रसारा विरानन्ते अन्तेक्षिपणयो वहिम्द सलिलाश्रया. इति चम्पूग्रन्थम् (अ. १०५–१)

५. यथा च त्रिशतीकार —पञ्चाहनैस्त्रतुर्भिर्वराटकैः काकणी चैकिनी (अ. १३७–२)

६. धनुष्पाणेर्यातदिनशभिसपत्नाकृतमसु' इति महिम्नस्तोत्र। किंचित असु? 'सपत्नाकृत' पत्र सह वर्तमानेन शरेण शरीरे अन्तः प्रविश्य. उत्पादितमहाव्यथमित्यर्थ.। इति टट्टीका (अ. १२६–१)

७. वातप्रमी समीरमृग, इति वोपालितः (अ. ११८–२)

नीति — कौटिल्य[१] (अर्थशास्त्र), जय[२], मुनि[३], चाणक्य (चाणिक्यनीति)

सामुद्रिकशास्त्र[४],

धनुर्वेद — धनुर्वेद[५],

---

१. यत्कौटिल्य. — ये द्रव्यहन्तोऽर्थांल्लं हस्तिन चापि योधयेयुस्ते तीक्ष्णाः, (दु ९७), यत्कौटिल्यः — कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्रः। (अ.६२ २), उद्धवं हन्यते अनेन इति उद्घातन इति कौटिल्यः। (अ. ९८–२)

२ यज्जय — शुक्रो घटे निवाहाय वगद् ग्राम्ये च वम्कानि इति (अ ८१–१)।

३ यन्मुनि. — सुवर्द्धितोऽत्र प्रानङ्ग (६४–२), यन्मुनि. — लघिपाङ्ग, मारणनं इति (अ ६५–२), यन्मुनि — विषनाशौषधे नित्यं, नित्यं धामृतभोजन। विषमो भुक्तशेष स्यात्, यच्छिष्टमथामृतम्। (अ. ६३-१)

४ पृ. ८०–२, प ५

५ यद् धनुर्वेदः — अग्रतो वामपाद तु, तीक्ष्ण चैवानुकुञ्चितम्। आलीढ तु प्रकर्तव्य, हस्तद्वयसविस्तरम्। ।१। पादौ सविस्तरौ गात्रौ, समहस्तप्रमाणतः। वैशाखस्थानके वन्व्य, कूटलक्ष्यस्य वेधनं।२। प्रत्यालीढे तु कर्तव्यः, सव्यस्येतरस्यानुकुञ्चितः। तिर्यग्वाम पुरस्तत्र, दूरापाते विशिष्यते।३। समपादे सम पादौ निष्कम्पौ च सुसङ्गतौ। मण्डले मण्डलाकारौ, बाह्यतीक्ष्णो विशेषतः।४। (अ. ६६–२)

पुराण — गरुडपुराण, नारदपुराण, पद्मपुराण, भविष्योत्तर-पुराण, विष्णुपुराण टीका सहित, हरिवंशपुराण, भागवत टीका सहित,

जैनागम साहित्य — आवश्यकसूत्र[१], आवश्यकचूर्णि[२], आवश्यकसूत्र बृहद्वृत्ति[३] (हारिभद्रीय), आचाराङ्गसूत्र सवृत्तिक[४], सूत्रकृताङ्गसूत्र सवृत्तिक[५], समवायाङ्गसूत्र वृत्ति सहित[६], राजप्रश्नीयसूत्र आ. मलयगिरि टीका सहित[७], प्रज्ञापनासूत्र वृत्ति सहित[८], उपदेशमाला कर्णिका टीका सहित[९], तत्त्वार्थसूत्र, तिलकाचार्य[१०], शीलतरङ्गिणी[११] (शीलोपदेशमाला वृत्ति), भक्तामर आदि.

---

१. अ ५८–२। २. शी. ६९–१। ३ अ ५७–२। ४. अ. ८२–२, ५. अ. ९५–२। ६. अ ६–२। ७ अ ५४–२। ८ अ. १०९–१

९. यदुपदेशमालाकर्णिकाटीका — तदा तस्मिन् वेनुच्च विन्ध्योपत्यकानि सहिता। आज्ञापालनिर्दिष्टेन्ना. कुड्यमभ्योऽस्य सम्भू। स प्रत्यर्थसद्भाव, प्रतिमूर्तमदान्तर। इति (अ. ११८–२)

१० यदुक्तं तिलकाचार्यैः — उपमेत्यादि व्याख्याने कर्त्तोः [illegible] स्कन्दात् मानुजनुदंशम्वप्नेषु प्रथम [illegible] इति (अ. ५–२), अयोन्याय गर्त्ताना ना, प्रेक्षान्तर दिशोर्दिशः। असंसार् नराहल्हेला पञ्चनर। इति तिलकाचार्यः (अ २२–१)। नगोऽभ्युदितः स्वांह्लो, कुणोपादाद भगवान्, इति तिलकाचार्यः (अ. १३–१)

११ कोशान् पम्मुप्मनायान, प्रनारिनाग्व प्रगान्। हाहारवते: लोके, वेषे [illegible] इति शीलतरङ्गिणी (अ. ११–१)

इन ग्रन्थों के नामोल्लेख तथा उद्धरणों के अतिरिक्त कई स्थलों पर "इति ऋग्वेदकाण्डे[१], इति श्रुतिः[२], इति स्मृति.[३], इति आगम.[४], इत्याचार्याः[५], यल्लक्ष्यं[६], यद्वैद्या[७]," आदि कहकर उन्होंने प्रचुरमात्रा में उद्धरण अपने टीका-ग्रंथों मे दिये हैं।

उपाध्याय पद

गणि, वाचनाचार्य और उपाध्याय पद उन्हें कब और किसके द्वारा प्राप्त हुये इसका कुछ भी पता नही है। इनकी सर्व प्रथम कृति शीलोञ्छनाममाला टीका (र. स १६५४) में

---

१ अ ७०–२

२ दशमे मासि सूते वै, इति श्रुते (अ. १८३–१)।

३ नवमे दशमे वाऽपि प्रबलै सूतिमारुतैः। निस्सार्यते बाण इव, यन्त्र-छिद्रेण सज्वर। इति स्मृतेश्च॥ पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात्, पितर त्रायते सुत। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्त, स्वयमेव स्वयम्भुवा। इति स्मृति (अ. ८३–१)।

४ कर्पूरागुरुकस्तूरी कक्कोलैर्यक्षकर्दम। तैः पिण्डीकृतैर्यक्षप्रिय पङ्क. सकृदृग्मैरित्यागम। (अ ५२–२)। यदागम —अभिचरन् श्येनेन यजेत इति, (अ. ७२–२)।

५ अवेक्षण अवेक्षा अवधान इत्यर्थ, इत्याचार्याश्च। अतिसर्जन समर्पणमित्यर्थ, इत्याचार्या (अ १८१–१)। यथा एकमेव वरपुमा-मुनराज्यमुनाश्रम, इति हुम्माहुराचार्या, (अ. १४३–२)

६ यल्लक्ष्यम् — उपार्जितानामर्थाना, त्याग एव हि रक्षणम्। तडागो-दरसंस्थान परीवाह इवाम्भसा। (अ. ९७–२)

७ यद्वैद्या —कृष्णं मोचयंत्यगुणा स्वर्णं गन्धवर्जिते। (अ ८८–१)।

"श्रीज्ञानविमलपाठक-सत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण। श्रीवल्लभेन रचिता, शीलोञ्छशास्त्रे शुभा टीका ॥ १६ ॥" श्रीवल्लभेन पद आता है और द्वितीय रचना शेषसङ्ग्रह दीपिका (र. सं. १६५४ या. क्र. ८) में भी "गुरूणामन्तिपदाऽणुना श्रीवल्लभेन" पद प्राप्त होता है। यही नहीं किन्तु इनके गुरु उ. श्रीज्ञानविमल रचित शब्दप्रभेद वृत्ति में, जो इनके गाढसहायता से पूर्ण हुई थी; 'अस्मदन्तिपदो . . . विद्वच्छ्रीवल्लभ:' शब्द ही आता है। इनके नाम के साथ में सं. १६५४ तक किसी प्रकार की उपाधि या विशेषण प्राप्त नहीं होता। किन्तु तदनन्तर की समग्र रचनाओं में गणि और वाचनाचार्य पद का प्रयोग देखने में आता है। सं. १६५४ के एक वर्ष पश्चात् ही की रचना 'उपकेश शब्द व्युत्पत्ति' (र. स. १६५५) में 'पण्डितश्रीवल्लभगणि-विरचिता' उल्लेख है। अतः संभव है कि सं १६५४ के अन्त में ही अथवा १६५५ में के प्रारम्भ में ही आपको गणि पद प्राप्त हुआ हो! पश्चात् अरजिनस्तववृत्ति में 'श्रीवल्लभेन गणिना वै' दुर्गपदप्रबोधवृत्ति (र. सं. १६६१) में 'वाचक', अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका (र. सं. १६६७), विद्वत्प्रबोधकाव्य और सारस्वत सूत्र के कैश पद की टीका में क्रमशः 'तच्छिष्यो वाचनाचार्यो वादि श्रीवल्लभ:' 'वाचनाचार्यधुर्यश्री-श्रीवल्लभगणीश्वरै:' तथा 'वाचनाचार्य' लिखा प्राप्त होता है।

उपाध्याय पद का उल्लेख हमें सर्वप्रथम चतुर्दशस्वर-स्थापन वादस्थल (र सं १६७४ से १६८०) में 'श्रीवल्लभ

होकर नहीं किन्तु वस्तु-निरूपण की दृष्टि से) अपने ग्रन्थों मे उ. धर्मसागर प्ररूपित प्रश्नों को सरलता पूर्वक खण्डन कर स्वगच्छ की आचरणाओं का मण्डन कर रहे थे। इन दोनों गच्छों के विवाद ही नहीं, किन्तु विजयदेवसूरि (जिनके लिये उ. श्रीवल्लभ ने विजयदेवमहात्म्य की रचना की) के समय मे तपगच्छ मे भी 'विजय' और 'सागर' के विवाद समाज में ऐसे विषैले बीजों का वपन कर रहे थे, जिससे समाज का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय। किन्तु तत्कालीन गच्छनायकों की चातुरी से समाज छिन्न-भिन्न तो नही हुआ परन्तु दो टुकडे अवश्य हो गये; जो आज भी मौजूद हैं[१]।

ऐसे विक्षेप के समय मे 'वादी' होते हुए भी श्रीवल्लभ का इन प्रपञ्चों में फंसना प्रतीत नही होता और न किसी ग्रन्थ में इनका इस विषय में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। अतः यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ दोनों गच्छों के संघर्ष में तटस्थ ही रहे थे। वे किसी प्रकार के वादों में पड़कर स्वसमय को नष्ट करना नही चाहते थे।

जिस समय तपगच्छ के साधु खरतरगच्छ के आचार्यों की प्रशंसा करना तो दूर उनकी कीर्ति का श्रवण करना भी अच्छा नही समझते थे और इसी प्रकार खरतरगच्छ के साधु भी तपगच्छ के प्रभाविक पुरुषों का कीर्तिगान करने में सकुचाते थे। यद्यपि उ. समयसुन्दरजी ने पार्श्व-

१. देखें—विजयतिलकसूरि रास

पाठक' पद मिलता है और विजयदेव माहात्म्य (जिसकी रचना अनुमानत: १६८७ के आस-पास हुई थी, जो शायद उनकी अन्तिम रचना थी) में 'श्रीवल्लभोपाध्याय विरचित' मिलता है। अत: संभव है कि स. १६६७ और १६८७ के मध्य में आचार्य जिनसिंहसूरि ने या आचार्य जिनराजसूरि ने उन्हें यह पद प्रदान किया हो!

साथ ही अभिधान चिन्तामणि नाममाला-वृत्ति की प्रशस्ति में "वादि : श्रीवल्लभ-" शब्द से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्होंने सं. १६६७ पूर्व ही कहीं पर किसी विद्वान से शास्त्रार्थ किया और उसे पराजित कर स्वयं ने विजय पताका प्राप्त की हो। अन्यथा हमें उदारमना महर्षि अपने लिये व्यर्थ की उपाधि का प्रयोग न करते।

विशालहृदयता

उस समय खरतरगच्छ और तपगच्छ मे विधिवाद विषयक विवाद प्रवल वेग से चल रहा था. और उसमें दोनो गच्छों के प्रमुख-प्रमुख व्यक्ति भाग ले रहे थे। इधर तपगच्छ की ओर से उ० धर्मसागर, नेमिसागर, लब्धिसागर और खरतरगच्छ की तरफ से महोपाध्याय धनचन्द्र, महो. साधुकीर्ति उ. जयसोम उ. गुणविनय, मतिकीर्ति आदि लगे हुये थे। यही नही किन्तु सर्व गच्छ के माननीय शान्तमना महर्षि उपाध्याय समयसुन्दर जैसे भी (किसी पूर्वाभिनिवेश या दुराग्रह के वशीभूत

होकर नहीं किन्तु वस्तु-निरूपण की दृष्टि से) अपने ग्रन्थों में उ. धर्मसागर प्ररूपित प्रश्नों को सरलता पूर्वक खण्डन कर स्वगच्छ की आचरणाओं का मण्डन कर रहे थे। इन दोनों गच्छों के विवाद ही नहीं, किन्तु विजयदेवसूरि (जिनके लिये उ. श्रीवल्लभ ने विजयदेवमहात्म्य की रचना की) के समय में तपगच्छ में भी 'विजय' और 'सागर' के विवाद समाज में ऐसे विषैले बीजों का वपन कर रहे थे, जिससे समाज का संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय। किन्तु तत्कालीन गच्छनायकों की चातुरी से समाज छिन्न-भिन्न तो नहीं हुआ परन्तु दो टुकडे अवश्य हो गये; जो आज भी मौजूद हैं[१]।

ऐसे विक्षेप के समय में 'वादी' होते हुए भी श्रीवल्लभ का इन प्रपञ्चों में फंसना प्रतीत नहीं होता और न किसी ग्रन्थ में इनका इस विषय में कोई उल्लेख ही प्राप्त होता है। अतः यह निश्चित है कि श्रीवल्लभ दोनों गच्छों के संघर्ष में तटस्थ ही रहे थे। वे किसी प्रकार के वादों में पड़कर स्वसमय को नष्ट करना नहीं चाहते थे।

जिस समय तपगच्छ के साधु खरतरगच्छ के आचार्यों की प्रशंसा करना तो दूर उनकी कीर्ति का श्रवण करना भी अच्छा नहीं समझते थे और इसी प्रकार खरतरगच्छ के साधु भी तपगच्छ के प्रभाविक पुरुषों का कीर्तिगान करने में सकुचाते थे। यद्यपि उ. समयसुन्दरजी ने पार्श्व-

१. देखें—विजयतिलकसूरि रास

चन्द्रगच्छीय पूंजा ऋषि का गुणवर्णन मुक्तकण्ठ से किया है तथा खरतर, तपा, अञ्चल इन तीनों गच्छों के आचार्यों का सुललित पद्यों में "भट्टारक तीन भए वड़भागी" कहकर गुणगान किया है; जो तत्कालीन समग्र साहित्य में अपवादरूप ही समझना चाहिए। ऐसे समय में तप-गच्छीय प्रसिद्ध आचार्य विजयदेवसूरिजी महाराज के चारित्रिक गुणों से प्रभावित होकर कवि ने १८ सर्गात्मक विजय-देवमाहात्म्य नामक महाकाव्य की रचना की और इससे अपनी माध्यस्थता, उदारता, विशालहृदयता का परिचय दिया। इसके सम्बन्ध में मुनि जिनविजयजी 'विज्ञप्ति त्रिवेणी' की प्रस्तावना में लिखते हैं.—

"श्रीवल्लभोपाध्याय की कृतियों में से एक कृति बड़ी ध्यान खीचने लायक है। इसका नाम है विजयदेव-महात्म्य। इसमें तपगच्छ के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयदेव-सूरि का सविस्तर जीवन-चरित्र वर्णन किया गया है। (ध्यान में रहे कि चरित्रनायक और चरित्रलेखक दोनों समकालीन हैं और विजयदेवसूरि अपने महात्म्य के निर्माण के समय में विद्यमान थे।) उस समय परस्पर साम्प्रदायिक विरोध इतना बढा हुआ था कि एक गच्छ वाले दूसरे गच्छ के प्रतिष्ठित व्यक्ति के गुणानुवाद करना तो दूर रहे परन्तु श्रवण में भी मध्यस्थता नहीं दिखला सकते थे। अर्थात् तपागच्छ वाले खरतरगच्छीय व्यक्ति के प्रति अपना बहुमान नहीं दिखा सकते थे और खरतरगच्छानुयायी तपागच्छ के प्रसिद्ध पुरुष की प्रशंसा करने दिल में दुःख

मनाते थे। ऐसी दशा में, खरतरगच्छीय एक विद्वान उपाध्याय के द्वारा तपागच्छ के एक आचार्य के गुणगान में बड़ा ग्रन्थ लिखा जाने वाला काम अवश्य आश्चर्य उत्पन्न करता है। समाज की यह विरोधात्मक प्रकृति, श्री वल्लभ पाठक के ध्यान से बहार न थी। वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि मेरे इन – भिन्न गच्छ के आचार्य की प्रशंसा और स्तवना करने वाले ग्रन्थ के लिखने रूप – कार्य से बहुत से दुराग्रही और स्वसाम्प्रदायिक असन्तुष्ट होकर मुझ पर कटाक्ष करेंगे। इसलिये इन्होंने ग्रन्थ के अन्त में, संक्षेप में परन्तु असरकारक शब्दों में लिख दिया है कि :—

यदन्यगच्छप्रभवः कविः किं, मुक्त्वा स्वसूरिं तपगच्छसूरेः।
कथं चरित्रं कुरुते पवित्रं, शङ्केयमार्यैर्न कदापि कार्या॥

आत्मार्थसिद्धिः किल कस्य नेष्टा.
मा तु स्तुतेरेव महात्मनां स्यात्।
आभाणकोऽपि प्रथितोऽस्ति लोके,
गङ्गा हि कस्यापि न पैतृकीयम्॥

तस्मान्मया केवलमर्थसिद्धये – जिह्वापवित्रीकरणाय यद्वा।
इति स्तुतः श्रीविजयादिदेवः, सूरिस्समं श्रीविजयादिसिंहैः॥

अर्थात् — अन्य (खरतर) गच्छ वाला कवि अपने गच्छ के आचार्य को छोड़कर तपागच्छ के आचार्य का चरित्र कैसे बनाता है, यह शंका विद्वान् मनुष्यों को न लानी चाहिए। क्यों कि आत्मसिद्धि किसे अभीष्ट नहीं

है?–सभी को इष्ट है। यह आत्मसिद्धि महात्माओं की स्तुति द्वारा होती है। और महात्माओं के लिये यह कोई नियम नहीं है कि वे अमुक पंथ या समुदाय में ही उत्पन्न हुआ करते हैं और यह भी कोई प्रतिबन्ध नही है कि अमुक मतानुयायी अमुक ही महात्माओं की स्तवना करे। जैसे गंगा किसी के बाप की नही है–सब ही उसके अमृतमय जल का पान कर सकते हैं–वैसे महात्माओ भी किसी के रजिष्टर्ड नही किये हुए है, सब ही मनुष्य अपनी अपनी इच्छानुसार उनके गुणगान कर अपनी उन्नति कर सकते हैं। इसलिये मैंने–खरतर-गच्छानुयायी होकर भी–अपनी जिह्वा को पवित्र करने के लिये तपागच्छ के महात्मा श्रीविजयदेवसूरि और (उनके शिष्य) विजयसिंहसूरि का यह पवित्र चरित्र लिखा है। इस विषय मे किसी को उद्वेगजनक विकल्प करने की जरूरत नहीं है। वाह! कैसी उदार दृष्टि और गुणानुराग!। यदि केवल इन ही ३ पद्यों का स्मरण और मनन हमारा आधुनिक जैन-समाज करे तो थोड़े ही दिनों मे वह उन्नति के शिखर पर आरूढ हो सकता है। शासनदेव यह दिन शीघ्र दिखावें। (पृ. ८२–८४)"

इनके उदारहृदय का परिचय देने वाली एक घटना और हुई। श्वेताम्बर जैनों में एक गच्छ है जिसका नाम है उपकेश। श्रीवल्लभजी के समकालीन उपकेशगच्छनायक श्रीसिद्धसूरि ने चाहा कि 'उनके गच्छ के नाम की एक सुन्दर व्युत्पत्ति हो जाय।' इस काम के लिये उन्होंने

श्रीवल्लभजी से आग्रह किया । इस पर उन्होंने उनके आग्रह को स्वीकार कर "ओकेश-उपकेश-पद-दशार्थी" की सं. १६५५ मे विक्रमनगर (बीकानेर) में बड़े विलक्षण ढग से रचना की । इससे भी स्पष्ट है कि इनके हृदय में साम्प्रदायिक भावों का लवलेश भी नही था, अपितु वे सहृदय उदार थे ।

विहार और शिष्यपरम्परा

इनके ग्रन्थों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनका बाल्यजीवन और प्रौढावस्था का समय राजस्थान में ही व्यतीत हुआ है । किन्तु विजयदेव महात्म्य को देखते हुए यह कल्पना की जा सकती है कि कवि वृद्धावस्था में 'गुर्जर' देश पहुँचे और वही पर विजयदेव के चारित्र और तप से आकृष्ट होकर विजयदेव महात्म्य की रचना की । इसलिये बहुत संभव है कि उनकी वृद्धावस्था वही पूर्ण हुई हो, और उनका स्वर्गवास भी उसी प्रदेश में हुआ हो ।

सब से बड़ी आश्चर्य की वस्तु यह है कि कवि की परम्परा चली हो—ऐसा प्रतीत नही होता, और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के उल्लेख ही मिलते हैं । अथवा उनके स्वय के शिष्य हों तो भी यह निश्चित है कि इनकी परम्परा दीर्घकाल तक नहीं चली अन्यथा उनमें से कोई तो विद्वान आदि भी होता जिनका कोई न कोई उल्लेख अवश्य मिलता ।

साहित्य – सर्जना

उपाध्याय श्रीवल्लभ का अरजिनस्तव उनके अनेक ग्रन्थों में से एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जिन में से कुल मिलाकर छोटे-मोटे १४ ग्रन्थ अबतक उपलब्ध हो चुके हैं। इनमे से ५ तो मौलिक कृतियाँ हैं और अन्य व्याकरण एवं कोषों पर टीकाएँ। चाहे इनके काव्यों को देखिए अथवा टीका ग्रन्थों को, प्रत्येक पृष्ठ पर लेखक का प्रकाण्ड-पाण्डित्य और सौजन्यपूर्ण औदार्य प्रस्फुटित हो रहा है। सब रचनाओं का तो पूर्ण परिचय करवाना यहाँ सभव नही है, केवल उनका संक्षिप्त परिचय मात्र यहाँ दिया जा रहा है जो, मेरी समझ मे, लेखक की प्रतिभा और निपुणता को प्रकाशित करने के लिये बहुत कुछ पर्याप्त है।

मौलिक-ग्रन्थ

विजयदेवमाहात्म्य-महाकाव्य

१७वीं शती के तपगच्छ साम्राज्य के अधिपति आचार्य विजयदेवसूरि के माहात्म्य का वर्णन होने से इस महा-काव्य का नाम भी विजयदेव माहात्म्य महाकाव्य रखा गया[१]। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार महाकाव्य के जो लक्षण षष्ठ परिच्छेद में विश्वनाथ ने दिये हैं उन लक्षणों

१. विजयदेवसूरीणा, माहात्म्य अधिकं गदा॥ २॥
विजयदेवमाहात्म्य, वर्ण्यतेऽत्र यतोऽद्‌भुतम्।
विजयदेवमाहात्म्य, नामकाव्य मत स्मृतम्॥ ३॥

से तुलना करने पर यह 'माहात्म्य' भी महाकाव्य की कोटि में आता है। इसके नायक, विजयदेवसूरि धीरोदात्त और देवत्व गुण से परिपूर्ण है। इसमें शान्तरस मुख्य है। इसका कथानक महात्मा के जीवन-चरित पर आश्रित है और तत्कालीन परिस्थितियों का सांगोपाङ्ग वर्णन होने से ऐतिहासिक भी है। इसमे धर्मफल की प्रधानता है। आदि में नमस्कार और कथानक-वस्तु का निर्देश भी है। इसमे १९ सर्ग हैं, सर्गस्थ श्लोकों की सख्या मध्यम है, हाँ, नवम सर्ग के श्लोकों की संख्या अन्य सर्गो की अपेक्षा अधिक है। इसमें ३६६ पद्य हैं। प्रत्येक सर्ग एक ही छन्द मे अनुस्यूत है, तथा अन्तिम वृत्त अन्य छन्द में ग्रथित है। इसमें कई स्थलों पर 'सागर[२]' आदि खलों की निन्दा और महापुरुषों का गुणगान भी किया गया है। प्रसङ्गोपात पुत्र जन्म, विवाह (दीक्षा), मुनि, स्वर्ग, सूर्य, चन्द्र, सागर आदि का वर्णन भी है। स्थान-स्थान पर अनुप्रास, श्लेष, यमक, वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अतिशयोक्ति, अन्योक्ति, विरोध, उपमा, रूपक आदि अलंकारों का इसमें अच्छा समावेश किया है। अतः यह काव्य केवल महात्म्य ही नहीं है किन्तु लक्षणसिद्ध घटना बहुल महाकाव्य है।

इसका रचना समय अज्ञात है। महाकवि ने प्रशस्ति में इसका कोई उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इस महात्म्य का आलोडन करने पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता

२. देखें, एकादश सर्ग

है कि इसकी रचना सं. १६८७ के पश्चात् ही कवि ने की है। इसका आधार यह है कि कवि चरितनायक के जन्म काल १६३४ से लेकर १६८७ तक की क्रमवद्ध घटनाओं का वर्णन सांगोपाङ्ग करता है। नायक का देहावसान १७१३ में हुआ है। कवि उनके देहावसान का तो क्या, किन्तु चरितनायक के १६८० के बाद दक्षिण देश में पधारने और काफी समय तक इस प्रदेश में विचरण करने का उल्लेख भी नही करता। १६८४ मे विजयदेवसूरि ने विजयसिंहसूरि को भट्टारक पद दिया और १६८६ में स्वर्णगिरि (जालोर) मे प्रतिष्ठा करवाओी[1]। स० १६८७ में मेदिनीतट[2] (वर्तमान-मेड़ता सिटी) में प्रतिष्ठा करवाई और उसके पश्चात् करवाया गंगाणी[3] तीर्थ का जीर्णोद्धार। इसके पश्चात् काव्य मे कोई जीवन की उल्लेखनीय घटना नही है,— किन्तु जहाँगीर पर प्रभाव, तपवर्णन, चारित्रवर्णन, और गुणवर्णनों मे ही आगे के सर्ग पूर्ण किये गये हैं। इसमें एक और घटना का उल्लेख है

---

१ षोडशस्य शतस्यास्मिन्, षडशीतितमेऽब्दके।
प्रथमाषाढपक्षस्य, कृष्णे पञ्चमवासरे। ॥ १६ ॥
प्रत्यतिष्ठ जिनेन्द्राणां, प्रतिमा प्रतिमाग्रिमा।
विजयदेवसूरीन्द्रः श्री जावालपुरेवरे ॥ १७ ॥ त्रयोदश सर्ग।

२. षोडशस्य शतस्यास्मिन्, सप्ताशीतितमेऽब्दके।
प्रतिमानां प्रतिष्ठाऽभूदेव श्रीमेदिनीतटे॥ ७२॥ १३ स.

३. देखें, १४ वां सर्ग

मेघजी[1] आदि मुख्य श्रावकवर्ग ने 'सागरमत' का त्याग कर, पुनः गुरु से वासक्षेप प्राप्त कर बोधिलाभ उपार्जन किया। इसका भी समय अवचूरिकार[2] ने सं. १६८७ दिया है। अतः यह अनुमान ठीक ही प्रतीत होता है कि इसकी रचना १६८७ के अन्त में ही हुई है। अन्यथा १६८८ की भी कोई घटना का उल्लेख अवश्य किया जाता।

कवि ने काव्य के प्रथम और द्वितीय सर्ग में चरित्रनायक का जन्म, विद्याभ्यास, वैवाहिक बन्धनों को न स्वीकार कर ब्रह्मचारी रहने की अत्युत्कट अभिलाषा और संयम के प्रति आकर्षण का वर्णन किया है। ३-४ सर्ग में आचार्य हीरविजयसूरि का प्रभाव वर्णन और विजयसेनसूरि का जीवन-चरित्र है। ५-७ सर्गों माता सहित चरित्रनायक की दीक्षा, शास्त्राभ्यास, विजयसेनसूरि के साथ सम्राट अकबर से मिलाप तथा चरित्रनायक के गणि और आचार्य पद प्राप्ति का वर्णन किया गया है। ८ वें सर्ग में कनकविजयादि शिष्यों का और ९-१० में प्रतिष्ठा, चातुर्मास, दीक्षाप्रदान और विजयसिंहसूरि को स्व पट्ट पर अभिषिक्त करने का वर्णन मिलता है। ११ वें में 'सागरपक्षीय' प्रतिवादियों को पराजित करने का उल्लेख है। १२-१४ में पाली नवलक्ष प्रसाद पार्श्वनाथ,

---

१ सागरीयं मतं त्यक्त्वा, मेघाद्या श्राद्ध मुख्यकाः।
बोधिं प्राप्ता गुरो रेव, वासक्षेपनसारतः॥ १०.७॥ १ ग

२. ××× १६८० वर्षे सम्मतर्षिणं तत्सागरीयं मतं त्यक्त्वा सा. मेघाद्याः बहवः श्रावकाः ××× देखें, पृष्ठ १२६

विद्वत्प्रबोधनामायं, ग्रन्थो विद्वत्प्रबोधकृत् ।
स्फूर्जच्छ्री वलभद्रे, श्रीवलभद्रपुरे वरे ॥ २ ॥
विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां, संजातायां प्रयोजनम् ।
एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्यभिमानोन्मथनाय वै ॥ ३ ॥
संयोगिवर्णं निगृणाति विद्वान्, योऽयं तमादौ च विधाय विद्वान् ।
दिव्येषु पादेषु चतुर्थ्वंशङ्कः, सद्यः सुपद्य विदधातु हृद्यम् ॥४॥

इसमें तीन परिच्छेद हैं और प्रत्येक में क्रमशः ५६,६० तथा २१ पद्य हैं। प्रथम परिच्छेद में चतुष्पादधारी गज, अश्व, वृषभ, सिंह और उष्ट्र का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में द्विपदधारी शुक, तित्तिरि, हंस, बक, चक्रवाक, सारस, टिट्टिभ, मयूर और चाष पक्षियों का वर्णन है तथा तृतीय परिच्छेद में साधु, पण्डित और वीर का संयोगि वर्णों को ग्रहण कर वर्णन किया है।

संयुक्त वर्णों के आधार पर इस प्रकार की विद्वतापूर्ण रचना जैन-साहित्य में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में भी इनी-गिनी ही प्राप्त है। इस दृष्टि से यह काव्य कवि की उज्वल कीर्ति को भारतीय वाङ्मय में अमर रखने के लिये पर्याप्त है। यह काव्य जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार सूरत द्वारा महावीर स्तोत्र के साथ प्रकाशित हो चुका है।

चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल

इस ग्रन्थ में सारस्वत व्याकरण में उल्लिखित १४ चौदह स्वरों की स्थापना की गई है। किसी 'कूर्चाल सरस्वतीविरुदं मन्यमान' प्रतिवादी ने पांच विकल्पों के

जालोर, मेडता आदि प्रतिष्ठाओं का विशद वर्णन तथा तथा गँगाणी तीर्थ के जीर्णोद्धार का प्रसंग कवि ने सुन्दर शब्दों मे व्यक्त किया है। १६ मे तपवर्णन, १७ वें में स्तम्भतीर्थ चातुर्मास वर्णन, १८ वे में सम्राट् जहाँगीर पर प्रभाव और महातपा विरुद प्राप्ति तथा सागर पराजय का वर्णन है और १९ वें सर्ग मे नायक के औदार्यादि गुणों का व्याख्यान है।

यह कवि की अन्तिम रचना है। इसके पश्चात् की कोई भी कृति प्राप्त नही होती है। इस काव्य के ऊपर सम सामयिक प्रसिद्ध साहित्यकार उपाध्याय श्रीमेघविजयजी प्रणीत अवचूरि प्राप्त है। इस काव्य की दो सुन्दर प्रतियाँ जयचन्द्रजी भण्डार बीकानेर व हरिसागरसूरि भण्डार लोहावट में है।

विद्वत्प्रबोध

काव्य के अन्त में निर्माण काल का उल्लेख न होने से समयनिर्धारण नही किया जा सकता। किन्तु यह रचना अत्यन्त प्रौढ, क्लिष्ट एव पाण्डित्य पूर्ण होने के कारण सं. १६६० के पश्चात् की ही लगती है। इसकी रचना वल्लभद्रपुर (संभव है उसे ही आजकल 'बालोतरा' कहते हों, जो जोधपुर स्टेट मे पचपदरा परगने मे है) में श्रीवल्लभद्र की विशिष्ट विद्वद्गोष्टी में प्रयोजन उपस्थित होने पर मेधावियों के अभिमान को मथन करने के लिये की गई है :—

विद्वत्प्रबोधनामायं, ग्रन्थो विद्वत्प्रबोधकृत् ।
स्फूर्जच्छ्री बलभद्रे, श्रीबलभद्रपुरे वरे ।। २ ।।
विद्वद्गोष्ठ्यां विशिष्टायां, संजतायां प्रयोजनम् ।
एतद्ग्रन्थस्य मेधाव्यभिमानोन्मथनाय वै ।। ३ ।।
सयोगिवर्णं निगृणाति विद्वान्, योऽयं तमादौ च विधाय विद्वान् ।
दिव्येषु पादेषु चतुर्ष्वंशङ्कः, सद्यः सुपद्यं विदधातु हृद्यम् ।।४।।

इसमें तीन परिच्छेद हैं और प्रत्येक में क्रमशः ५६,६० तथा २१ पद्य हैं । प्रथम परिच्छेद में चतुष्पादधारी गज, अश्व, वृषभ, सिंह और उष्ट्र का वर्णन है । द्वितीय परिच्छेद में द्विपदधारी शुक, तितिरि, हंस, बक, चक्रवाक, सारस, टिट्टिभ, मयूर और चाष पक्षियों का वर्णन है तथा तृतीय परिच्छेद में साधु, पण्डित और वीर का सयोगि वर्णों को ग्रहण कर वर्णन किया है ।

संयुक्त वर्णों के आधार पर इस प्रकार की विद्वतापूर्ण रचना जैन-साहित्य में ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य में भी इनी-गिनी ही प्राप्त है । इस दृष्टि से यह काव्य कवि की उज्ज्वल कीर्ति को भारतीय वाङ्मय में अमर रखने के लिये पर्याप्त है । यह काव्य जिनदत्तसूरि ज्ञान भण्डार सूरत द्वारा महावीर स्तोत्र के साथ प्रकाशित हो चुका है ।

चतुर्दशस्वरस्थापनवादस्थल

इस ग्रन्थ में सारस्वत व्याकरण में उल्लिखित १४ चौदह स्वरों की स्थापना की गई है । किसी 'कूर्चाल सरस्वतीविरुदं मन्यमान' प्रतिवादी ने पांच विकल्पों के

पुस्तिका से ज्ञात नही होता । यह रचना श्रीजिनराजसूरि[1] के राज्य में हुई है, एवं इसमें अपने लिये कवि ने उपाध्याय पद का उपयोग किया है । अतः यह रचना सं. १६७४ के पश्चात् की है । यह वादस्थल बहुत ही छोटा है । इसकी प्रेसकॉपी मेरे संग्रह में है ।

अभिधान चिन्तामणि नाममाला टीका की प्रशस्ति में कवि के नाम के साथ 'वादी श्रीवल्लभः' वादी विशेषण का प्रयोग देखने में आता है । अतः यह स्पष्ट है कि सं. १६६७ के पूर्व में ही आपने किसी वादी के साथ शास्त्रार्थ कर उसे पराजित कर विजयलक्ष्मी प्राप्त कर अपने लिये 'वादी' विशेषण का उपयोग किया हो और सं. १६७४ के पश्चात् यह १४ स्वरों विषयक वाद दूसरी बार हुआ हो ।

उपकेशशब्दव्युत्पत्ति

सं. १६५५में विक्रमनगर (बीकानेर) में उपकेशगच्छीय ककुदाचार्य सन्तानीय श्रीसिद्धसूरि के आग्रह से उदारता पूर्वक ओकेश और उपकेश इन दोनों शब्दों के ५-५ अर्थ व्युत्पत्ति प्रदर्शन पूर्वक बहुत ही सुन्दर पद्धति से लिखे हैं :—

"सं. १६५५वर्षे श्रीमद्विक्रमनगरे सकलवादिवृन्दकन्द-कुद्दालककुदाचार्यसन्तानीय श्रीगच्छेशसिद्धसूरीश्वराणामाग्रहतः श्रीमद्बृहत्खरतरगच्छीय वाचनाचार्यधुर्यश्रीज्ञानविमल-

---

१. श्रीजिनराजसूरीन्द्रे, धर्मराज्यं विधातरि ।
अस्मिन् खरतरे गच्छे, धर्मराज्यं विधातरि ॥ १ ॥

इस में अपने लिये श्रीवल्लभ ने "श्रीवल्लभेन गणिना" गणि शब्द का प्रयोग किया है। उपाध्याय पद प्रकरण में हम देख चुके है कि स. १६५५ में आप को गणि पद प्राप्त हुआ था; सं. १६५४ तक तो आप केवल मुनि श्रीवल्लभ ही थे। अतः इस की रचना १६५५ के बाद की ही है। और दूसरी बात, 'श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधान-सूरिष्वधीशेषु' श्रीजिनचन्द्रसूरि के विजय राज्य में आता है। आचार्य जिनचन्द्र का १६७० में स्वर्गवास हुआ था, अतः १६५५ और १६७० के मध्यकाल में इस की रचना हुई है, स्पष्ट है। साथ ही यह मानना भी अनुपयुक्त न होगा कि मूल और टीका की रचना साथ-साथ ही हुई है।

यह लेखक के प्रौढावस्था की रचना है; अत इस की भाषा भी बहुत ही प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। इस स्तोत्र में लेखक को अनिष्पन्न और अप्रचलित शब्दों को रकारगर्भित करने के लिये जिस योजना-कौशल और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह इसमें पूर्णरूपेण विद्यमान है। जहाँ १००० रकार प्रधान काव्य की रचना करना हो, वहाँ उस काव्य में प्रायः अधिक शब्द तो अप्रसिद्ध ही प्रयुक्त होते हैं उन्हें सिद्ध करने के लिये उणादिसूत्र और अनेकार्थी तथा एकाक्षरी नाममालाओं का आश्रय लेना पड़ता है। टीकाकार ने भी इसमें हैमव्याकरण, उणादिसूत्र, धातु-पारायण, कविकल्पद्रुम, अनेकार्थनाममाला, सौभरि, सुधा-कलश, विश्वशंभु, ध्वनिमञ्जरी आदि एकाक्षरी नाममालाओं

गणिशिष्य पण्डित श्रीवल्लभगणिविरचिता ओकेश—उपकेश-पदद्वयदशार्थी समाप्ता ।"

उपकेशशब्दव्युत्पत्ति की प्रायः प्रत्येक प्रतियों के साथ में ही "खरतरशब्दव्युत्पत्ति" भी लिखी हुई प्राप्त होती है । संभव है यह कृति भी आपकी ही हो ।

टीका-ग्रन्थ

अरजिनस्तववृत्तिः

अरजिनस्तव पर ही आप की यह स्वोपज्ञ टीका है। सहस्रदलात्मक इस चित्रकाव्य पर आप की यह टीका न होती तो इस की मार्मिकता समझने में काफी असुविधाएँ रहती । इस टीका का निर्माण काल लेखक ने प्रशस्ति में नहीं दिया है, फिर भी प्रशस्ति से कुछ अनुमान किया जा सकता है :—

खरतरगणजलधिसमुल्लासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।
नम्रानेकनराणां, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् ॥ १ ॥
पट्टे वरे[ऽधि]विजयिषु, कुमतिलताव्रातनाशनहिमेषु ।
श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधानसूरिष्वधीशेषु ॥ २ ॥
येषा स्फुरत्प्रतापाधिक्यजित सन् निरन्तरं भानुः ।
भ्रमतितमांवियति हि ते, ज्ञानविमलवाचका नन्द्युः ॥ ३ ॥
तच्छिष्यांबुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना यं ।
विहिता स्तववृत्तिरियं, यदनूनमिह तद्बुधैः शोध्यम् ॥ ४ ॥

इस में अपने लिये श्रीवल्लभ ने "श्रीवल्लभेन गणिना" गणि शब्द का प्रयोग किया है। उपाध्याय पद प्रकरण में हम देख चुके है कि सं. १६५५ मे आप को गणि पद प्राप्त हुआ था; सं. १६५४ तक तो आप केवल मुनि श्रीवल्लभ ही थे। अतः इस की रचना १६५५ के बाद की ही है। और दूसरी बात, 'श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधान-सूरिप्ववीशेषु' श्रीजिनचन्द्रसूरि के विजय राज्य में आता है। आचार्य जिनचन्द्र का १६७० में स्वर्गवास हुआ था, अतः १६५५ और १६७० के मध्यकाल में इस की रचना हुई है, स्पष्ट है। साथ ही यह मानना भी अनुपयुक्त न होगा कि मूल और टीका की रचना साथ-साथ ही हुई है।

यह लेखक के प्रौढावस्था की रचना है; अतः इस की भाषा भी बहुत ही प्राञ्जल और प्रवाहपूर्ण है। इस स्तोत्र में लेखक को अनिष्पन्न और अप्रचलित शब्दों को रकारगर्भित करने के लिये जिस योजना-कौशल और पाण्डित्य की आवश्यकता थी वह इसमें पूर्णरूपेण विद्यमान है। जहां १००० रकार प्रधान काव्य की रचना करना हो, वहां उस काव्य में प्रायः अधिक शब्द तो अप्रसिद्ध ही प्रयुक्त होते हैं उन्हें सिद्ध करने के लिये उणादिसूत्र और अनेकार्थी तथा एकाक्षरी नाममालाओं का आश्रय लेना पड़ता है। टीकाकार ने भी इसमें हैमव्याकरण, उणादिसूत्र, धातु-पारायण, कविकल्पद्रुम, अनेकार्थनाममाला, सौभरि, सुधा-कलश, विश्वशंभु, ध्वनिमञ्जरी आदि एकाक्षरी नाममालाओं

के आधार पर ही शब्दों की निष्पत्ति की है। उदाहरण के लिये देखिए :—

पद्य ४१ में 'कठोरकालूरविदारसायुः' पद की व्याख्या—

"कठोरकालूरविदारसायु" कठोरं—दृढ कं—दु.खं येषां ते कठोरकाः, "क शिर क सुखं तोयं, पयो दु.ख" [सौ. ए. २०] इत्युक्तेः, कठोरकाश्च ते आलूराश्च-विटाः कठोरकालूरास्तेषां विगतो दारः—भयं यस्मात् स कठोर-कालूरविदारः, आलूरशब्द उणादिर्विटवाची, सायाः—लक्ष्म्याः आयुः—जीवनं यस्मात् सायुः, द्वाभ्यां कर्मधारये कठोरकालूर-विदारसायुः, "ईणक् गतौ" "कृवापाजिस्वदिसाध्यशौदृस्ना-सनिजनिरहीण्भ्य उण्" [सि हे. उ सू. १] इति सूत्रेण उण् प्रत्यये आयुरिति, "पुरुषः शकट औषध जीवन पुरुषः पुत्रो वा" इति आकारः पादपूरणार्थः ॥१४॥

इसी प्रकार पद्य ४१ के कुछ अंशों का रसास्वादन करिए :—

. . .श्री अरनाथजिन. 'समरणनीरधितीर' समरणं-समरः "समरण स्वराम्बाधनमूलनो। समरे" [अने. सं. का. ३ श्लो. १४६२-६४] इति हैमानेकार्थोक्तेः, समरण-मेवनीरधिः—समरसागरः, नीरशब्दो जलवाची औणादिकः; तस्य तीरं-प्रान्त तट वा समरणनीरधितीरं 'पस्पार' प्राप्तवान्, "स्फर स्फल्ल् स्फुरणे, चलने [इत्येके]" इति धातुपाठगणवचनाद्, गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वात् परोक्षायां णवि

रूपम् । किम्भूतः [सुधीः]? , इत्वरनोद्धारपुष्करमुमूरविदारजित्वरः' "इंण्क् गतौ" ज्ञानार्थोऽत्र, यत्नीत्येवंशीलाः "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि. हे. ५-२-७७] इत्यनेन ट्वरपि इत्वराः-पण्डिताः नाः नराः, "नो नरे च सनायेऽपि" [वि. ए. ७६] इति विश्वशम्भूक्तेः, तेषां उद्धारः-उद्धरणं संसारपातादिति येषां ते नोद्धाराः, इत्वराश्च ते नोद्धाराश्च इत्वरनोद्धाराः, त एव पुष्कराणि-पद्मानि तेषां विकासेन मुमूर इव-प्रधानभानुरिव योऽसौ इत्वरनोद्धारपुष्करमुमूरः, विदारे-सङ्ग्रामे "विदारो युधि" [अने. सं. का. २ श्लो. १२०३] इति वचनप्रामाण्यात्, शत्रून् जयतीत्येवंशीलः "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि. हे. ५-२-७७] इति ट्वरपि विदारः, इत्वरनोद्धारपुष्करमुसूरश्चासौ विदारजित्वरश्चेति कर्मधारये इत्वरनोद्धारपुष्करमुसूरविदारजित्वरः। पुनः किम्भूतः सुधीः? 'अकन्तुः' निष्कामः, "कन्तुः कामकुसूलयोः" [अने. सं. कां. २ श्लो. १७५] इत्युक्तेः। पुनः किम्भूतः सुधीः? 'रपकौः' "रप भाषणे" अकचि रपन्ति-भाषन्ते स्याद्वादमिति रपकास्तान् अवति-रक्षति योऽसौ तथा।"

शिलोञ्छनाममाला-वृत्ति

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्यप्रवर श्रीहेमचन्द्राचार्य प्रणीत अभिधानचिन्तामणिनाममाला की 'शिलोञ्छ' करने की

दिवस मूलार्क में नागपुर (वर्तमान-नागोर) में टीका की रचना पूर्ण की। इसका ग्रंथमान १३०० श्लोक परिमाण है। संभव है इस टीका का प्रारम्भ फलवर्द्धि पार्श्वनाथ (मेड़तारोड) में किया हो, कारण कि मङ्गलाचारण में 'श्रीमच्छ्रीफलवर्द्धिकाभिधपुरी' स्थित 'पार्श्वनाथ' को नमस्कार किया है। जैसा कि प्रशस्ति से स्पष्ट है:—

श्रीज्ञानविमलपाठकसत्पादाम्भोजचञ्चरीकेण ।
श्रीवल्लभेन रचिता शिलोञ्छनाम्नेः शुभा टीका ॥१६॥
हैमव्याकृति-हैमोणादिग्रंथादिनामकोशांश्च ।
दृष्ट्वा विमृश्य गाढं, प्रसादमासाद्यपूज्यानाम् ॥२०॥
वेदेन्द्रियरसपृथ्वीसङ्ख्ये वर्षेसु नागपुरनगरे ।
मधुमासाद्ये पक्षे मूलार्के सप्तमीतिथ्याम् ॥ २१ ॥

* * *

त्रयोदशशतान्येवं, ग्रन्थमान विनिश्चितम् ।
अस्याः शिलोञ्छटीकायाः, अनुमित्या कृतं शुभम् ॥ २८ ॥
यह आप की सर्वप्रथम टीकाकृति है।

शेषसंग्रह दीपिका

अभिधानचिन्तामणिनाममाला में कथित शब्दों के अतिरिक्त शब्दों का संग्रह आचार्य हेमचन्द्र ने 'शेषसंग्रह-नाममाला' के रूप में किया। इस की टीका 'दीपिका' के नाम से, हैमव्याकरण, हैमोणादि, धातुपारायण, विश्व-कोश, अनेकार्थकोष, वैजयन्ती, वाचस्पति, मार्कण्डेयपुराण आदि ग्रन्थों का अवलोकन कर, सं. १६५४ श्रावण शुक्ला

अष्टमी को बीकानेर में, नृपति श्रीरायसिंहजी के विजय राज्य में, १६०० ग्रन्थ परिमाण रचना पूर्ण की :—

तेषां विख्यातकीर्त्तीणां, गुरूणामन्तिपदाऽणुना ।
कृता श्रीवल्लभेनेयं, शेषसंग्रहदीपिका ॥ १८ ॥
हैमव्याकरणोणादिधातुपारायणानि च ।
विश्वकोषाद्यनेकार्थनामकोशकदम्बकम् ॥ १६ ॥
वर्षे शतानन्दमुखेन्द्रियेशपुत्राननाब्जप्रमिते वरिष्ठे ।
अष्टम्यहे मासि नभस्य कृष्णे श्रेष्ठे पुरे विक्रमनामधेये ॥२०॥
श्रीविक्रमवंशोद्भवमद्विक्रमरायसिंहनृपराज्ये ।
सल्लोककोकसम्मदविधानभानू परे रम्ये ॥ २१ ॥

अभिधानचिन्तामणिनाममाला—सारोद्धार—टीका

आपने आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधानचिन्तामणि-नाममाला पर सं १६६७ में, जोधपुर में, महाराजा श्रीसूरसिंहजी के राज्यत्वकाल में 'सारोद्धार' नामक विस्तृत टीका की रचना पूर्ण की :—

तथा श्रीयोधपुरदुर्गे, सूरसिंहनरेशितु. ।
राज्ये च वत्सरे सप्तर्षिरसचन्द्रसम्मिते ॥ ७ ॥

• • •

सच्छिष्यो वाचनाचार्यो वादी श्रीवल्लभोऽभवत् ।
श्री[illegible]नाममालाया, नाम्ना सारोद्धृतिशुभाम् ॥ ११ ॥
हैमव्याकरणोणादिशानिर्णाय [illegible]
वृद्धवंशोद्योतस्य, नाम [illegible]

•

सूत्रवृत्यो सहस्राणि, नवपञ्चशतानि च ।
ग्रंथमानमिह ज्ञेयं, सर्वमेवं विचक्षणैः ॥१८॥

यह टीका बहुत ही प्रौढ और विशाल है। इसमें टीकाकार ने शब्दों के पर्याय मात्र देने के चक्कर में न फंसकर विशिष्ट शब्दों की सिद्धि और व्युत्पत्ति तथा भूरिशः ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा टीका को स्पष्ट और सरस बनाने का प्रयत्न किया है। इस टीका में उद्धरणों की अत्यधिक बहुलता है जो सामान्य-विद्वान् के अधिकार की वस्तु नही किन्तु प्रौढ-प्रतिभाशाली के निपुणता की द्योतक है। व्याख्या में लगभग एकसौ सत्तर ग्रन्थों के उद्धरण दिये है, वे भी एक दो नहीं किन्तु प्रचुर परिमाण में। साथ ही इसकी एक विशेषता यह भी है कि संस्कृत शब्दों का व्यवहार देश्यशब्दों में किस प्रकार होता है इसको दिखलाने के लिये उन्होंने प्रायः "इति भाषा" कहकर राजस्थानी भाषा के घरेलु और साहित्यिक लगभग २५०० शब्दों का प्रयोग किया है, जो राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। भविष्य में यदि संभव हो सका तो श्रीवल्लभजी के टीका-ग्रन्थों में उद्धृत सम्पूर्ण राजस्थानी शब्द कोष तैयार कर साहित्य-मनीषियों की सेवा मे रखने का प्रयत्न करूंगा।

कही कहीं किसी शब्द की व्युत्पत्ति की मान्यता में और साधना में अन्तर है वहां व्याख्याकार ने कई वैयाकरणों एवं कोषों द्वारा अपने मत को सिद्ध करने

अष्टमी को बीकानेर में, नृपति श्रीरायसिंहजी के विजय राज्य मे, १६०० ग्रन्थ परिमाण रचना पूर्ण की :—

तेषां विख्यातकीर्त्तीणां, गुरूणामन्तिपदाऽणुना ।
कृता श्रीवल्लभेनेयं, शेषसंग्रहदीपिका ॥ १८ ॥
हैमव्याकरणोणादिधातुपारायणानि च ।
विश्वकोषाद्यनेकार्थनामकोशकदम्बकम् ॥ १९ ॥
वर्षे शतानन्दमुखेन्द्रियेशपुत्राननाब्जप्रमिते वरिष्ठे ।
अष्टम्यहे मासि नभस्य कृष्णे श्रेष्ठे पुरे विक्रमनामधेये ॥२०॥
श्रीविक्रमवंशोद्भवसद्विक्रमराजसिंहनृपराज्ये ।
सल्लोककोकसम्मदविधानभानू परे रम्ये ॥ २१ ॥

अभिधानचिन्तामणिनाममाला – सारोद्धार – टीका

आपने आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधानचिन्तामणि-नाममाला पर सं १६६७ में, जोधपुर में, महाराजा श्रीसूरसिंहजी के राज्यत्वकाल में 'सारोद्धार' नामक विस्तृत टीका की रचना पूर्ण की :—

तथा योधपुरद्रङ्गे, सूरसिंहनरेशितुः ।
राज्ये च वत्सरे सप्तषष्ठिषट्चन्द्रसम्मिते ॥ ७ ॥

*　　　*　　　*

तच्छिष्यो वाचनाचार्यो वादी श्रीवल्लभोऽद्भुतम् ।
श्रीहैमनाममालाया, नाम्ना सारोद्धृतिं शुभाम् ॥ ११ ॥
हैमव्याकरणोणादिपाणिनीयादिकं भृशम् ।
दुष्प्रवेशोऽबोधगस्तन्त्रे, नामकोशस्य भूयसः ॥ १२ ॥

*　　　*　　　*

मूत्रवृत्त्यो सहस्राणि, नवपञ्चशतानि च ।
ग्रन्थमानमिह ज्ञेयं, सर्वमेव विचक्षणैः ॥१८॥

यह टीका बहुत ही प्रौढ और विशाल है । इसमें टीकाकार ने शब्दों के पर्याय मात्र देने के चक्कर में न फंसकर विशिष्ट शब्दों की सिद्धि और व्युत्पत्ति तथा भूरिश: ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा टीका को स्पष्ट और सरस बनाने का प्रयत्न किया है । इस टीका में उद्धरणों की अत्यधिक बहुलता है जो सामान्य-विद्वान् के अधिकार की वस्तु नहीं किन्तु प्रौढ-प्रतिभाशाली के निपुणता की द्योतक है । व्याख्या में लगभग एकसौ सत्तर ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं, वे भी एक दो नही किन्तु प्रचुर परिमाण में । साथ ही इसकी एक विशेषता यह भी है कि संस्कृत शब्दों का व्यवहार देश्यशब्दों में किस प्रकार होता है इसको दिखलाने के लिये उन्होंने प्राय: "इति भाषा" कहकर राजस्थानी भाषा के घरेलु और साहित्यिक लगभग २५०० शब्दों का प्रयोग किया है, जो राजस्थानी भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । भविष्य में यदि संभव हो सका तो श्रीवल्लभजी के टीका-ग्रन्थों में उद्धृत सम्पूर्ण राजस्थानी शब्द कोष तैयार कर साहित्य-मनीषियों की सेवा में रखने का प्रयत्न करूँगा ।

कही कहीं किसी शब्द की व्युत्पत्ति की मान्यता में और साधना में अन्तर है वहीं व्याख्याकार ने पाई वैयाकरणों एवं कोषों द्वारा अपने मत को सिद्ध करने

का प्रयत्न किया है--जो कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट हो जायगा :—

"पङ्क्तिसमूहनामैक गार्भिणम् 'गर्भिण्या क्षेत्रपङ्क्तय-स्तासां गार्भिणम्' इति गणरत्नमहोदधिवृत्तिः। अत्र गर्भिणी शब्दो मेघमालाशालापङ्क्तयादिवाचकत्वात् अचित्तविशेषवचन इति इकण् प्राप्तौ तद्‌बाधको 'भिक्षादे:' इति सूत्रेण अन् ततो 'जातिश्चणि' इति पुवद्भावे, सप्तमाध्यायचतुर्थपाद-वृत्तिपञ्चाशत्तमसूत्रेण 'संयोगादिनः' इत्यन्तलोपप्रतिषेधः। गर्भवतीस्त्रीवचनात्तु इकणोऽप्राप्तेरौत्सर्गिकवचनाण् इति न्यासकारः। अतो गर्भवतीनां स्त्रीणां वृन्दानामपि गार्भिणामिति। . तरूणीनां स्त्रीणा वृन्दनामैकं "यौवतम्" चतुर्थवर्गाद्यान्तोऽयम्। युवतिशब्दस्य भिक्षादिगणमध्ये पाठात् पुवद्भावो न भवति। यत् काशिकाकार:— 'युवतिशब्दोऽत्र पठ्यते। तस्य ग्रहणसामर्थ्यात् पुवद्भावो न भवति।' अतो 'अवर्णवर्णस्य' इति, युवतिशब्दसम्बधित-स्तवर्गप्रथमस्य तृतीयस्वरलोपे योवत चन्द्राचार्याभिप्रायेण। वस्तुतस्तु तद्धितप्रत्ययोत्पत्तेः प्रायेण पुवद्भावेन भवितव्यम्। ततो युवतीना समूहं यौवन, 'भिक्षादे:' इत्यण्, 'जातिश्चणि' तद्धित--'यस्वरे' इति पुवद्‌भावे तीतिवर्णलोपे यौवनं चतुर्थवर्गपञ्चमान्तोऽयम्। यत. उक्त भाष्यकारेण— भिक्षादिषु युवतिग्रहणानर्थक्य पुवद्‌भावस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधात् इति। यथा — सुरूपमतिनैपथ्यं कला-कुमान्यौवनम्। यस्य पुण्यकृतः प्रियं सफलं तस्य यौवनम्॥ इति, यस्य पुण्यकृत:— पुण्यकर्तुः पुरुषस्य कलाकुमान्यौवन-

कलाचतुरतरुणीवृन्दं प्रेष्यं–आज्ञाकारि तस्या यौवनं–यूनो भाव: सफलं इत्यन्वय: । कीदृशं स्वरूपं? अतिनेपथ्यं यस्य तत् अतिनेपथ्यं इति श्लोकार्थ:। यौवतं चतुर्थवर्ग-प्रथमान्त: स्वमते, परमते तु यौवनं चतुर्थवर्गपञ्चमान्त:, इत्युभयं तरुणीवृन्दवाचक ज्ञेयम्।" (कां. ६. श्लो. ५१ की टीका, पृ. १३०–१)

इससे इनका शब्द व्युत्पत्ति ज्ञान और कोश-काव्य-ज्ञान का परिचय मिलता हैं। दुर्भाग्य है कि इस प्रकार की महत्त्वपूर्ण टीका साहित्य-जगत में प्रकाश मे अभी तक नही आई है। जैन संस्थाओं का कर्तव्य है कि इस प्रकार की टीकाओं का प्रकाशन शीघ्र और अवश्य करे।

इसमें कां. ६ पद्य १७१ की व्याख्या में संवत् शब्द का उदाहरण देने के लिये श्रीवल्लभजी 'सिद्धहेमकुमार संवत्' का उल्लेख करते है जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व का है। इससे यह तो निश्चित है कि इस सिद्धहेमकुमार संवत् का नाम प्रचलन १७ वी शती के उतरार्द्ध तक अवश्य था–तदनन्तर तो संभवत: इन नाम का उल्लेख भी प्राप्त नही होता।

निघण्टुशेषनाममाला टीका

अभिधानचिन्तामणि नाममाला कां. ४ पद्य २०८ की टीका "रार्याणनामानि श्रीहेमचन्द्राचार्यकृतहेमनिघण्टुशेषो-क्तानि ज्ञेयानि। तद्यथा–राजादने तु राजन्या आदि। एतेषां व्युत्पत्तिस्तु अस्मत्कृत निघण्टुशेषटीकातो ज्ञेया।"

से स्पष्ट है कि आपने निघण्टुशेषनाममाला पर टीका की रचना की, पर दुर्भाग्य है कि आज वह प्राप्त ही नहीं है, संभव है नष्ट हो गई ।

सिद्धहेमशब्दानुशासनवृत्ति

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत सिद्धहेमशब्दानुशासन पर आपने वृत्ति की रचना है । इस की एक मात्र प्रति 'विजयधर्म-लक्ष्मी-ज्ञानमन्दिर, आगरा' में सुरक्षित है । पत्र संख्या १४३ है । इस प्रकार की सूचना भाई श्री भँवरलालजी नाहटा से सं. २००२ में प्राप्त हुई थी । टीकाकार ने कब इस की रचना की ? यह इन के प्रारम्भिक काल की रचना है अथवा प्रौढावस्था की ? इस विषय में प्रति के सन्मुख न होने के कारण कुछ भी निश्चय से नहीं कहा जा सकता । परन्तु इस की पत्र संख्या १४३ होने से यह अनुमान अवश्य होता है कि टीका विशद और प्रौढ होनी चाहिये ।

दुर्गपदप्रबोधवृत्ति

श्री हेमचन्द्राचार्य प्रणीत हेमलिङ्गानुशासनविवरण पर दुर्गपदप्रबोध नामक टीका की रचना आचार्य जिनचन्द्रसूरि एवं तत्पट्टधर श्री जिनसिंहसूरि के धर्मराज्य में विचरण करते हुए आपने वि. सं. १६६१ कार्तिक शुक्ला सप्तमी को जोधपुर में नरेश सूरसिंहजी के विजय राज्य में अनेक शास्त्रों का अवलोकन कर २००० ग्रन्थ परिमाण में की:—

मोहद्रोहवनप्लुषः स्मरविषः प्रध्वस्तदोषद्विषः,
पापक्लेशमुषः सनद्गतरुषः चारित्रलक्ष्मीपुषः ।
पुण्यश्रीपजुषः प्रशान्तवपुषः स्फूर्जद्यशोज्योतिषः,
तत्पट्टे जिनसिंहसूरिगुरवो नन्दन्ति दिव्यौजसः ॥३॥

* * *

श्रीमद्योधपुरे द्रङ्गे सूरसिंहमहीपतौ ।
प्राज्यराज्यश्रियं शश्वच्छास्तरि प्रभुतोदये ॥५॥
भूमिपड्रसतुङ्गीघसङ्ख्ये वर्षे सुखाधिके ।
मासि कार्तिके कान्ते, सुदिने सप्तमीदिने ॥६॥

* * *

तेषां शिष्यवरैश्चक्रे, श्रीश्रीवल्लभवाचकैः ।
दुर्गपदप्रबोधोऽयं, प्रकटज्ञानहेतवे ॥६॥
श्रीहेमचन्द्रसूरीन्द्रकृते लिङ्गानुशासने ।
विद्यते या शुभावृत्तिस्तस्यदुर्गार्थबोधदः ॥१०॥

* * *

सहस्रद्वितयं ग्रन्थमानमत्रोदितं शुभम् ।
गणनया च वर्णानामनुमित्यावसीयते ॥११॥

वृत्ति की रचना मूल लिङ्गानुशासन पर नहीं की गई । इसमें 'या शुभावृत्ति विद्यते तस्य दुर्गार्थबोधदः' से स्पष्ट है कि आ० हेमचन्द्र का ही जो लिङ्गानुशासन के ऊपर स्वोपज्ञ विवरण है उसमें जिन-जिन स्थानों में जहाँ दौर्गम्य या काठिन्य है उन ही स्थलों पर इसमें विवेचन किया गया है । इसीलिये इस विवरण का नाम दुर्गपद-प्रबोध रखा गया है ।

यह टीका भी बहुत सुन्दर है। इसमे भी 'इति प्रसिद्धे' कहकर लगभग १४०० देश्य शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसका सम्पादन भी सुन्दर रूप से होकर 'श्री अमी सोम जैन ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

सारस्वतप्रयोगनिर्णय

जिनराजसूरि के राज्य में (स. १६७४ से १६९०) इसकी रचना हुई है। इसकी एक-मात्र २३ पत्र की अपूर्ण प्रति 'भावहर्षीय खरतर. भंडार, बालोतरा' मे है। ऐसी सूचना भाई श्रीअगरचन्दजी नाहटा ने दी है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि सारस्वतव्याकरण के प्रयोगों का इसमे निर्णय-साधन किया गया है। प्रौढावस्था की कृति होने के कारण संभवतः यह भी महत्वपूर्ण हो, पर प्रति के सन्मुख न होने के कारण विशेष कुछ भी नही कहा जा सकता।

बेशा :– पदव्याख्या

सारस्वत व्याकरणस्य 'बेशा'[१] इस पद्य की व्याख्या इसमें सुन्दरतम पद्धति से की गई है। इस एक श्लोक की व्याख्या में भी टीकाकार ने सिद्धहेम, पाणिनीय, विश्वशम्भु, अमर, हैमनिघण्टु, श्रीधर इत्यादि के उद्धरणों के साथ

१ बेशाः सर्वोऽन्या [illegible], [illegible]।
विविधोऽन्य दो दश, [illegible] ॥१॥

इसको सरल और सरस बनाने का प्रयत्न किया है। इसकी रचना कब हुई निश्चित नहीं कहा जा सकता। इसकी एकमात्र प्रति महिमा भक्ति जैन ज्ञान भण्डार, बीकानेर, पो. ७० ग्रं. १८६० में सुरक्षित है। पत्र संख्या केवल एक ही है। इसका आद्यन्त इस प्रकार है:—

आ-मं.– सारस्वतस्य सूत्रे यत्, केषा इति पदं स्फुटम्

तच्छ्लोकटीकामाचष्टे, श्रीश्रीवल्लभवाचकः ॥१॥

अ.– कृतश्चायं श्रीज्ञानविमलमहोपाध्यायमिश्राणां शिष्य वाचनाचार्यश्रीवल्लभगणिभिः, स च शिष्यादिभिर्वाच्यमानश्चिरं नन्द्यात्, श्रीशारदाप्रसादात्।

चतुर्दशगुणस्थानस्वाध्याय

यह स्वाध्याय (सज्झाय) भाषा में गुम्फित है। इसमें १४ गुणस्थानों का क्रमशः वर्णन है। इसके २३ पद्य हैं। इसका आद्यन्त इस प्रकार है:–

आदि :–

समरवि वीर जिणेसर देव, जसु सुरपति सवि सारइ सेव।
सुगुरुतणा वचन निसुणेवी, पभणिसुं गुणठाणानुं भेवी ॥१॥

अन्त :–

एय कुमलकारक दुःखनिवारक चउद थानिकी जाणीइ,
जिन तणी वाणी होइ आणि सुमतिमांन वरनांणीइ।
जे सुणिअ निव्रत करि एक चित्त सुथिर समकित तेह तणओ,
श्रीवल्लभ मुनिवर भणि जिनवर तिहां घरी हुई सुजपणो
॥२३॥

परिशिष्ट परिचय

क

भारतीय वाङमय में सहस्रदलात्मक चित्र-काव्यों में यह दूसरी कृति है। इसका रचना समय अज्ञात है। इसके कर्ता कौन हैं? इस स्तोत्र की पंक्तियों से अस्पष्ट है। 'श्रीरत्न' 'श्रीलब्धरङ्ग' नाम आते हैं पर निश्चित नहीं कहा जा सकता कि किस कवि ने इसका प्रणयन किया है। पर हाँ, इतनी बात निश्चित है कि कवि "खरतर" [पद्य ३७] गच्छीय विद्वान था। इस स्तोत्र की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:—

यह स्तोत्र चौबीसवें शासनपति श्रीमहावीर को लक्ष्य में रखकर बनाया गया है। इसमें ३८ पद्य हैं। अनेक प्रकार के छन्दों का कवि ने स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है। 'अरजिनस्तव' की तरह कवि ने "र" का प्रयोग किया है। अरजिनस्तवकार ने दो अक्षरों के पश्चात् र का प्रयोग किया है किन्तु इस स्तोत्रकार ने एक अक्षर के पश्चात् ही र का प्रयोग किया है और वह भी १०१६ रकार। एक अक्षर के पश्चात् ही रकार होने के कारण तथा वृत्ति का अभाव होने से इसकी मार्मिकता को समझने में हम असफल रहे हैं। अतः संभव है यत्र तत्र अशुद्धियाँ रह गई हों।

ख

शतदलकमलमय पार्श्व-स्तव के कर्ता उपाध्याय *सहजकीर्त्ति* खरतरगच्छीय क्षेमशाखा के वाचक रत्नसार के शिष्य थे। संस्कृत-साहित्य के विशेषत: व्याकरण, कोष और साहित्य के आप प्रकाण्ड विद्वान थे, साथ ही थे कवि भी। इनके ऋजुप्राज्ञ नामक व्याकरण, नामकोष नामक कोष, सारस्वत वृत्ति, कल्पसूत्र वृत्ति (कल्पमंजरी) आदि उल्लेखनीय रचनाएँ प्राप्त हैं। वैसे रास और छोटी-मोटी टीकाएँ आदि मिलाकर लगभग २८ ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इस स्तोत्र की रचना सं. १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को लोद्रपुर (वर्तमान-लोद्रवा, जेसलमेर से ३ कोस) में हुई है। लोद्रपुर पत्तन में जिनेश्वर प्रसाद (जो जीर्ण हो गया था) का जेसलमीर निवासी शाह थाहरु ने जीर्णोद्धार करवाकर खरतरगच्छाचार्य जिनराजसूरि से इसी दिवस प्रतिष्ठा सम्पन्न करवाई थी। उसी के उपलक्ष में उसी दिवस कवि ने इसकी रचना पूर्ण की है। ऐसा कमलस्थ बहिःलेखन से प्रकट है।

उपर्युक्त दोनों चित्रकाव्यों से इसकी रचना-पद्धति भिन्न है। इसमें "म" को मध्यबिन्दु में रखा है और अक्षरों के पश्चात् म का प्रयोग न करके प्रत्येक पाद के अन्त में म का प्रयोग किया है। साथ ही प्रत्येक पाद के

प्रथमाक्षर का संयुक्त और मुक्तक रूप से स्वतन्त्र ही ३ पद्यों में कवि ने रसास्वादन करवाया है। काव्य बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। इससे कवि की उच्च प्रतिभा का भी आभास प्राप्त होता है। इस काव्य में २५ पद्य यन्त्रस्थ हैं और एक पद्य प्रशस्ति रूप में तथा ५ पद्य लोद्रपुर प्रतिष्ठा समय के सूचना देने और रचना का कारण बतलाने के लिये लिखे गये हैं जो यन्त्र के बाहिरी भाग में उत्कीर्ण हैं।

यह शिलापट्ट आज भी लोद्रवा पार्श्वनाथ मन्दिर में अवस्थित है।

प्रकाशन का इतिहास

मेरे शिरच्छत्र पूज्येश्वर गुरुदेव श्रीजिनमणिसागरसूरिजी महाराज का सं. २००४ का चातुर्मास कोटा में था। उस वर्ष में नेमिदूत का सम्पादन कर रहा था। उस समय परमपूज्य गुरुदेव की यह अभिलाषा और आदेश था कि 'तू अपने गच्छ के स्तोत्र-साहित्य एवं छोटे-मोटे काव्यग्रन्थों का सम्पादन कर प्रकाश में ला।' इसी विचार से प्रभावित होकर मैंने श्रीनाहटाजी को बीकानेर लिखा और नाहटाजी ने भी तत्काल ही इस ग्रन्थ की प्रेसकॉपी मुझे प्रकाशनार्थ भेज दी। वह प्रेसकॉपी पद्धति से नहीं की गई थी इसलिये नाहटाजी के द्वारा ही पूना से प्रति मंगवाकर उसी वर्ष मैंने प्रेसकॉपी तैयार की। मुद्रणार्थ मैंने तो प्रेस में देने का विचार था, परन्तु इस उच्चकोटि के

काव्य ग्रन्थ के प्रकाशन में अशुद्धि बाहुल्य न रह जाय (कारण कि उस समय मेरा ज्ञान साधारण ही था) जिस लिये कॉपी शुद्ध करवाने की दृष्टि से गणि श्रीवुद्धिमुनिजी म० को भेज दी गई। उन्होंने भी अवकाश निकाल कर उसे शुद्ध करके वापिस लौटा दिया।

इसी बीच में परीक्षाओं के निमित्त अध्ययन कार्य में जुट गया। फलतः प्रकाशन का कार्य वन्द हो गया। गत वर्ष मेरा चातुर्मास अहमदावाद था। परीक्षाओं के चक्र से विनिर्मुक्त हो चुका था। वल्लभभारती की प्रेमकॉपी बनाने में संलग्न था। उस समय पुनः इस स्तोत्र-काव्य की स्मृति आई, प्रकाशन के लिये हृदय लालायित हो उठा। श्रावक वर्ग को उपदेश देकर मुद्रण के लिये द्रव्य की व्यवस्था भी की और मुद्रणार्थ पुनः प्रेस कॉपी तैयार कर 'नवजीवन कार्यालय' को मुद्रणार्थ देदी।

प्रति-परिचय

प्रस्तुत अरजिनस्तव का सम्पादन करने में हमें एक ही प्रति प्राप्त हुई है और वह भी 'भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्ट्रीच्यूट, पूना' से। यद्यपि प्रति के अन्त में लेखक ने लेखन संवत नहीं दिया है किन्तु प्रति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि यह रचना के कुछ समय पश्चात् ही लिखी गई है। प्रति प्रायः शुद्ध है, परन्तु कई स्थलों पर काव्यस्थ शब्दों की टीका प्रमाद से

जिसकी सूचना टिप्पणी मे दे दी गई है । प्रति के १५ पत्र हैं । प्रत्येक पत्र मे २१–२१ पंक्तियां है और प्रत्येक पंक्ति मे ६२–६५ अक्षर हैं । प्रति की दीर्घता १०।। इंच है, और पृथुता ४।। इंच है । प्रति अभी तक अच्छी हालत मे है ।

परिशिष्ट क–शतदल स्तोत्र का सम्पादन श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर के जैन लेख संग्रह भाग ३, और पं. लालचन्द्र भगवान् गान्धी द्वारा सम्पादित 'जेसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूचि' के आधार पर किया गया है ।

और परिशिष्ट ख महस्रदलात्मक वीर स्तोत्र श्रद्धेय भाई-मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराज से प्राप्त हुआ है । इसका एक ही पत्र है । किनारे खंडित हो चुके हैं । पत्र भी जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहा है । अनुमान है यह पत्र १७वी शती के अन्त में अथवा १८वी के प्रारभ में लिखा गया हो ।

आभार-प्रदर्शन :—

इस ग्रंथ के प्रकाशन मे मुझे जिन जिन श्रद्धेय मनीषियों का और इष्टमण्डली का सहयोग प्राप्त हुआ है उनके लिये मै हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ । उनके सहयोग के बिना इस काव्य-रत्न का प्रकाश मे आना ही मुश्किल था ।

सर्वप्रथम मैं श्री अगरचन्द्रजी नाहटा को धन्यवाद देता हूँ जिनकी प्रेरणा से ही इस काव्य के सम्पादन का

विचार हुआ और सम्पादन के लिये समय-समय पर यथोचित सामग्री तथा परामर्श भी प्राप्त हुआ। दूसरे, गणिवर श्री वुद्धिमुनिजी महाराज का भी मैं आभारी हूँ जिन्होने इसकी कॉपी को मेरे आग्रह पर शुद्ध कर भेजने का कष्ट उठाया। तीसरे, श्रद्धेय मुनिराज श्री पुण्यविजयजी म. भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सारे ग्रन्थ के प्रूफ देखने का कष्ट उठाया। चौथे, मेरे विद्यागुरु डा. श्री फतहसिंहजी एम. ए. डी. लिट, का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके परामर्श से मुझे सम्पादन में बड़ी सफलता मिली है।

साथ ही भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के क्यूरेटर श्री पी. के. गोडे को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता, जिनकी कृपा से ही सम्पादनार्थ इस प्रति को ८ मास तक मैं अपने पास रख सका।

सूत्रधार एवं आर्टिस्ट भाई श्री अमृतलाल मूलशंकर त्रिवेदी भी धन्यवाद के पात्र है जिनने मेरे आग्रह को स्वीकार कर प्रेम से इस सहस्रदलकमल का चित्र बनाया। और अहमदावाद का खरतरगच्छ संघ भी धन्यवाद का भाजन है जिसने की इसके प्रकाशन के लिये द्रव्य की व्यवस्था की।

श्रावणी अमावस्या २०१० — श्यामाम्बुनु-
कोटा — विनयसागर

जिसकी सूचना टिप्पणी में दे दी गई है। प्रति के १५ पत्र है। प्रत्येक पत्र मे २१–२१ पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति मे ६२–६५ अक्षर हैं। प्रति की दीर्घता १०॥। इच है, और पृथुता ४॥। इंच है। प्रति अभी तक अच्छी हालत मे है।

परिशिष्ट क–शतदल स्तोत्र का सम्पादन श्रीपूर्णचन्द्रजी नाहर के जैन लेख सग्रह भाग ३, और पं. लालचन्द्र भगवान् गान्धी द्वारा सम्पादित 'जैसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूचि' के आधार पर किया गया है।

और परिशिष्ट ख सहस्रदलात्मक वीर स्तोत्र श्रद्धेय भाई-मुनिराज श्रीपुण्यविजयजी महाराज से प्राप्त हुआ है। इसका एक ही पत्र है। किनारे खंडित हो चुके हैं। पत्र भी जीर्ण-शीर्ण दशा को प्राप्त हो रहा है। अनुमान है यह पत्र १७वी शती के अन्त में अथवा १८वी के प्रारंभ में लिखा गया हो।

आभार-प्रदर्शन :—

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मुझे जिन जिन श्रद्धेय मनीषियों का और इष्टमण्डली का सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिये मै हृदय से उनका कृतज्ञ हूँ। उनके सहयोग के विना इस काव्य-रत्न का प्रकाश में आना ही मुश्किल था।

सर्वप्रथम मैं श्री अगरचन्द्रजी नाहटा को धन्यवाद देना हूँ जिनकी प्रेरणा से ही इस काव्य के सम्पादन का

विचार हुआ और सम्पादन के लिये समय-समय पर यथोचित सामग्री तथा परामर्श भी प्राप्त हुआ। दूसरे, गणिवर श्री बुद्धिमुनिजी महाराज का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने इसकी कॉपी को मेरे आग्रह पर शुद्ध कर भेजने का कष्ट उठाया। तीसरे, श्रद्धेय मुनिराज श्री पुण्यविजयजी म. भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने सारे ग्रन्थ के प्रूफ देखने का कष्ट उठाया। चौथे, मेरे विद्यागुरु डा. श्री फतहसिंहजी एम. ए. डी. लिट, का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनके परामर्श से मुझे सम्पादन में बड़ी सफलता मिली है।

साथ ही भाण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट के क्यूरेटर श्री पी. के. गोडे को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जिनकी कृपा से ही सम्पादनार्थ इस प्रति को ८ मास तक मैं अपने पास रख सका।

सूत्रधार एवं आर्टिस्ट भाई श्री अमृतलाल मूलशंकर त्रिवेदी भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनने मेरे आग्रह को स्वीकार कर प्रेम से इस सहस्रदलकमल का चित्र बनाया। और अहमदाबाद का खरतरगच्छ संघ भी धन्यवाद का भाजन है जिसने की इसके प्रकाशन के लिये द्रव्य की व्यवस्था की।

श्रावणी अमावस्या २०१०
कोटा

स्याद्वादानु-
विनयसागर

संकेतसूची

अ. = अभिधान चिन्तामणि नामकोष

अभि. चि. का. = अभिधान चिन्तामणि काण्ड

अ. चि. ना. वृ. प्र. = अभिधान चिन्तामणि नाममाला वृत्ति प्रशस्ति

अने. सं. का. = अनेकार्थ संग्रह नाममाला काण्ड

अ. स्त. वृ. प्र. = अरजिनस्तव वृत्ति प्रशस्ति

ऐ. जै. का. सं. = ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह

कवि. क. = कवि कल्पद्रुम

जे. = जेसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थाना सूची

दु. प्र. = दुर्गपदप्रबोध

दु. प्र. प्र. = दुर्गपदप्रबोध प्रशस्ति

ना. = जैन लेख संग्रह भा. ३ (नाहर)

पा. सि. कौ. = पाणिनीय सिद्धान्त कौमुदी

र. स. = रचना सवस्

वि. ए. = विश्वशम्भु एकाक्षरी नाममाला

वि. त्रि. = विज्ञप्ति त्रिवेणी

वि. त्रि. प्र. = विज्ञप्ति त्रिवेणी प्रस्तावना

शी. = शीलोंछनाममाला वृत्ति

शी. ना. टी. प्र. = शीलोंछ नाममाला टीका प्रशस्ति

शे. सं. टी. प्र. = शेष संग्रह टीका प्रशस्ति

सि. है. = सिद्ध हैम शब्दानुशासन

सि. है. उ. सू. = सिद्ध हेम उणादि सूत्र

सु. ए. = सुधाकलश एकाक्षरी नाममाला

सौ. ए. = सौभरि एकाक्षरी नाममाला

स्वोपज्ञवृत्तिविभूषितः

श्री अरजिनस्तवः

(सहस्रदलकमलमयः)

अर्हम्

श्रीमज्जिनमणिसागरसूरिपादपद्मेभ्यो नमः

उपाध्यायप्रवरश्रीश्रीवल्लभोपाध्यायविहित :

स्वोपज्ञवृत्तिविभूषितः

श्रीअरनाथजिनस्तवः

(सहस्रदलकमलमयः)



[वृत्तिकारमङ्गलाचरणम्]

स्वकीयविद्यागुरुसत्प्रसादात्,
करोमि वृत्तिं स्तवनस्य चार्वीम् ।
अरं जिनं हर्षकरं प्रणम्य,
सहस्रपत्राम्बुजगर्भितस्य ॥१॥

तस्य चायमादिः—

असुरनिर्जरबन्धुरशेखर-
प्रचुरभव्यरजोभिर पञ्जिरम् ।
क्रमरजं शिरसा सरसं वरं,
जिन! रमेश्वर! मेदुरशङ्कर! ॥१॥

प्रवरवर्णरसागरचन्दिर!
जठररागरसाविरसङ्गर! ।
सुचिरकुञ्जरभीतरभद्रर!,
कुरु रमं भरमामरहृत्यर! ॥२॥
[युग्मम्]

व्याख्या — हे 'जिन! हे तीर्थंकर! हे अरनाथ! तवेति शेषः, 'क्रमरज' रात्–जलाज्जातं रजं–कमलं, क्रमः–चरणः,स एव रज क्रमरज 'शिरसा' मस्तकेन [वन्दे] इत्यध्याहार्यम् । किम्भूतं क्रमरज? 'पञ्जिरम्' पीतम्, कैः? 'असुरनिर्जरबन्धुरशेखरप्रचुरभव्यरजोभिः' असुराः–असुरकुमाराः निर्जराः–वैमानिकत्रिदशास्तेषां ये बन्धुरशेखराः–मनोहरापीडास्तेषां यानि प्रचुरभव्यरजांसि–बहुलचारुपरागास्तैः । 'अ' पादपूरणार्थमव्ययम् । पुनः किम्भूत क्रमरजं? 'सरसं' रसयुक्तम् । पुनः किम्भूतं क्रमरज? 'वरं' प्रधानम् । किम्भूत हे जिन!? 'रमेश्वर!' लक्ष्मीनाथ! । पुनः किम्भूत जिन!? 'मेदुरशङ्कर!' प्रमोदेन मेद्यन्तीत्येवशीलाः "भञ्जिभासिमिदो घुरः" [सि.हे.५।२।७४] इतिघुरः, मेदुराः–प्रमोदपिच्छिलास्तान् प्रति शं–सुखं करोतीति मेदुरशङ्करस्तस्यामन्त्रणम् ॥ १ ॥

हे आमरहृत्यर! "रह त्यागे" "इकिस्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति तिवि रहतिः–त्यजन, आमानां–रोगाणां रहृतिर्यस्य यस्माद्वा आमरहृतिः, स चासौ अरः–अरजिनस्तस्यामन्त्रणं हे आमरहृत्यर! त्वं 'रमं भरं' प्रधानं पोषणं 'कुरु' विधेहि । किम्भूत हे आमरहृत्यर!? 'प्रवरवर्णर-

सागरचन्दिर!' प्रवराः—प्रकृष्टा ये वर्णाः—शौर्यगाम्भीर्यादयो गुणाः, यदुक्तं हेमसूरिभिः—

— "वर्णः स्वर्णे मखे[1] स्तुतौ ।
रूपे द्विजादौ शुक्लादौ, कुथायामक्षरे गुणे ॥"
[अने. सं. कां. २ श्लो. १६६]

इति, त एव राणि—रत्नानि "रं रत्नं रोदनं धनम्" [सौ. ए. श्लो. ८३] इति वचनात्, तेषां सागरः—समुद्रस्तस्याह्लाददायकत्वात् चन्दिर इव—चन्द्रमा इव यः सः सम्बोध्यते । किम्भूत त्वं? 'जठररागरसाविः' जठरः—कठिनः "जठरः कुक्षिवद्धयोः, कठिने [च]" [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११५६] इत्युक्तेः, प्रस्तावाद् दृढोऽत्यन्तकरणादयो रागरसः—नर्म्म तस्य आविः—व्रजनं यस्मात् स तथा, "स्यात्तु नर्मणि, मुखोत्सवो रागरसः" [शेष. सं. श्लो. ११५] इति शेषः। पुनः किम्भूत हे आमरहत्यर! ? 'असङ्गर!' सङ्ग्रामरहित! । पुनः किम्भूत आमरहत्यर! ? 'मुचिरकृन्नरभीतरभद्रर!' मुचिरं—धर्मं कुर्वन्तीति मुचिरकृतस्ते च ते नराश्च मुचिरकृन्नरास्तेषां भीतरभद्रे—भयेतरमङ्गले राति—ददाति यः स तथा स सम्बोध्यते । यदुक्तमुणादिवृत्त्याम्—"मुचिरो धर्मः सूर्यो मेघश्च" [सि. हे. उ. सू. ४१६] ॥२॥

प्रवरपार्थरदन्तुरभूधर-
भिदुरतुल्य! रसासर! कं कर ।
कुनरकाकरदादरकस्वर!
विदुरजेसरभक्तरमुत्कर! ॥३॥

---

१. "व्रते" इति मुद्रिते ।

व्याख्या—हे 'रसासर!' रसायां—वसुन्धरायां सरति—गच्छति रसासरः—पुमान् तत्सम्बोधनं हे रसासर! हे पुरुष! हे अर! त्व 'क' सुखं 'कर' कुरुष्व। "कृञ् कृतौ" इति धातो-राशी.प्रेरणयोर्हिरूपम्। अथ सम्बोधनविशेषणयोर्विशेष्यते—किम्भूत हे रसासर!? 'प्रदरपार्परदन्तुरभूधरभिदुरतुल्य!' प्रदराः—रोगाः महाव्रणादयः "प्रदरः शरे॥ भङ्गे रोगे" [अने. स. कां. ३ श्लो. ११७२-७३] इति वचनात्, पार्परः—यमः कालरूपः "पार्परो भस्मनि यमे" [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११७६] इति वचनात्, तेषां द्वन्द्वे प्रदरपार्पराः, त एव दन्तुरभूधराः—विषमपर्वता. "दन्तुरः, उन्नतदन्ते विषमे" [अने. सं का. ३ श्लो. ११६३] इत्युक्तेः, तेषां भञ्जने भिदुरं—वज्रं तत्तुल्यः—तत्समानो यः स तथा स सम्बोध्यते। पुनः किम्भूत रसासर!? 'कुनरकार्करदादरकस्वर!' कुः—कुत्सितः नरकः—निरयः कुनरकस्तस्मिन् यत् अर्कं—दुःख तद् रदन्ति—उत्पादयन्ति ये ते कुनरकार्करदास्तेषु आदरं—पूजाविशेषं "कस गतौ" कसती-त्येवंशीलो यः सः, "स्थेशभासपिसकसो वरः"[सि.हे.५।२।८१] इति वरः, कुनरकार्करदादरकस्वरः तत्सम्बोधनम्। पुनः किम्भूत रसासर!? 'विदुरजेगरभक्तरमुत्कर!' विदुरेषु—धीरेषु जेगराः—शूराः "जेगर: शूर." इत्युणादौ [सि. हे. उ. सू. ४३६] विदुर-जेगराः, ते च ते भक्तराश्च—भक्तनरास्तेषां मुत्करः—हर्षकरो यः स तथा, स सम्बोध्यते ॥३॥

मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुर-
विदारणाकरसिंहरहोऽगरम्।

चतुरनं जरसाऽधरमं स्मर,

शिवरमं वरसंवरवृद्धिरम् ॥४॥

व्याख्या — हे जन ! इति पदमध्याहार्यम्। त्वं 'अं' अर्हन्तं अरनाथलक्षणं 'स्मर' मनसि चिन्तय। किंविशिष्टं अं ? 'मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुरविदरणाकरसिंहरहोऽगरम्' मुहिरः–कामः "मुहिरो मूर्खकामयोः" [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११९५] इति हैमाचार्याः, तस्य यो गर्वरः–अहङ्कारः, यदुक्तमुणादौ—"गर्वरोऽहंकारः [महिषश्च]" [सि. हे. उ. सूत्र ४४१] स एव दुर्द्धरसिन्धुरः– उत्कटमातङ्गस्तस्य विदरणं–व्यापादनं तस्य आकरः–समन्ताद् विधानं तत्र सिंह इव–व्याघ्र इव यः स मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुरविदरणाकरसिंहः, रहः–अज्ञानं तद् न गृणाति–न शब्दयति यः स रहोऽगरः, "गॄ शब्दे" द्वाभ्यां कर्मधारये मुहिरगर्वरदुर्द्धरसिन्धुरविदरणाकरसिंहरहोऽगरस्तम्। पुनः किम्भूतं अं ? 'चतुरनं' चतुराः–विद्वांसो नाः–नरा यस्य स तथा तम्। "नो नरे" [वि. ए. ७६] इति विश्वः। पुनः किम्भूतं अं ? 'जरसाऽधरम्' जरसा–वृद्धत्वेन अधरं–हीनं रहितमित्यर्थः। "[1]अधरोऽन्तर्द्धिहीनोष्ठेषु" [अने. सं. कां. ३ श्लो. १११७] इति वचनप्रमाणात्। पुनः किम्भूतं अं ? 'शिवरमं' शिवे–मुक्तौ रमते यः स तथा तम्। पुनः किम्भूतं अं? 'वरसंवरवृद्धिरं' "वृ वरणे" वरन्ति धर्मश्रियं इति वराः–श्रावकास्तेषां संवरवृद्धीः–वैराग्यमती राति–प्रयच्छति यः स तथा तम् ॥४॥

१. अधरोऽनूर्ध्वहीनोष्ठेषु" इति मु०

सुहीरसच्चीरविहारसीवर-
प्रतारसाधारणकारवार्दर! ।
जनौर! निर्मरणधोरणीस्फिरं,
मनोरमास्वारवतो रतक्षर! ॥५॥

व्याख्या—हे 'अ!' जिन! तवेति शेषः, 'निर्मरणधोरणीस्फिर' निर्मराश्च—निर्मर्यादा ये णाश्च—प्रस्तुता ये ते निर्मरणाः—गुणास्तेषां धोरणी—श्रेणिः गुणावली स्फिरं—वृद्धि प्राप्नोतीति शेष.। कस्मात्? 'मनोरमास्वारवतः' मनसा रमन्ते इति मनोरमाः—पण्डितास्तेषु आ—समन्तात् स्वारवः—प्रधानशब्दस्तस्मात्। निर्मरणधोरणी किंविशिष्टा? 'सुहीरसच्चीरविहारसीवरप्रतारसाधारणका' सुहीरः—प्रकृष्टहीरः विशेषशुभ्रत्वात्, सच्चीरं—प्रशस्तवासोविशेषः, विहारः—विशिष्टमुक्तावलीः, सीवरः—समुद्रः प्रस्तावात् क्षीरसमुद्रः, प्रतारः—निर्झररूपं, एषां द्वन्द्वे सुहीरसच्चीरविहारसीवरप्रतारा., तेषां साधारण एव—समाना एव ग्राह्यतया, स्वार्थे कः। किम्भूत हे अ!? 'आरवार्दर!' आराणि—देवसमूहास्तेषु वार्दरं—वचनं धर्मरूपं यस्य स तथा, तत्सम्बोधनम्। "वार्दरं कृमिजे जले॥ काकचिञ्च्यादवबीजे वामदक्षिणावर्त्तशङ्खयोः।" [अने. सं. कां. ३ श्लो. १२००,१२०१] इति हैमानेकार्थवचनात्। पुनः किम्भूत अ!? 'जनौः!' जनान्—लोकान् अवति—प्रीणयति यः स तथा तत्सम्बोधनम्। पुनः किम्भूत [अ!]? 'रतक्षर!' रतात्—सम्भोगात् क्षरति—चलति यः स तथा, तत्सम्बोधनम्॥५॥

डमरदुर्ज्वरतस्करभीभर-
प्रहरणाविरहः किरताद् दरम् ।
सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः
प्रसरकीर्तिरजाहरनिर्दरः ॥६॥

व्याख्या—'प्रसरकीर्तिः' "सृ गतौ" प्रसरति-सर्वत्रविस्तरयति या सा प्रसरा, एवंविधा कीर्तिः-यशो यस्य स प्रसरकीर्तिः-अरनाथः 'दरं' भयं 'किरतात्' क्षिपतात् । किंविशिष्टः प्रसरकीर्तिः? 'डमरदुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणाविरहः' दुष्टो ज्वरः दुर्ज्वरः तस्कराः-चौराः भीभरो-भयवृन्दं प्रहरणं-युद्धं, एषां द्वन्द्वः दुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणानि, डमराणि-भीष्मानि दुर्ज्वरतस्करभीभरप्रहरणानि, तेषां अ [?आ] विरहः-समन्ताद्विरहो यस्य स तथा । पुनः किम्भूतः प्रसरकीर्तिः? 'सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः' "कुरत् शब्दे" अलन्तः, सुकुरेण-समस्तजनप्रियत्वात् विशिष्टशब्देन तीर्णः-अभिभूतो रदस्वरो धीः-बुद्धिस्तस्या घरः-गृहं धीघरः, द्वयोः कर्मधारये सुकुरतीर्णरदस्वरधीघरः। "हमे रन् (त्)ध च" हन्ति हन्यते । "घरो गृहमिति प्रासादे"। पुनः किंविशिष्टः प्रसरकीर्तिः? 'अजाहरनिर्दरः' अजः-नित्यः न हरतीति अहरः, स चासौ निर्दरः-निर्भयो यः सः, त्रयाणां कर्मधारयः ॥ ६ ॥

चकार हिंसोरविशारणं गिरः,
उदारसम्भारसुधीरकेकरः ।
अमारमन्दारसमीरकन्धर-
प्रकार आचारविदोरनीवरः ॥७॥

व्याख्या—'उदारसम्भारसुधीः' उदाराः—दातारस्तेषां सम्भारः—गणः "सम्भारः सम्भृतौ गणे" [अने. स. कां. ३ श्लो. १२१६] इत्युक्तेः, तेन सुष्ठु ध्यायते यः स उदारसम्भारसुधीः—श्रीअरनाथजिनः 'हिंसीरविशारण' हिंसीराः—हिंस्राः प्रकरणात् कर्माणि तेषां विशारणं—व्यापादनं हिंसीरविशारण कर्मनाशं 'चकार' कृतवान् । किम्भूत उदारसम्भारसुधीः ? 'गिरः' "गृ निगरणे" गिरतीति गिरः "नाम्युपान्त्यप्रीकृगृज्ञः कः" [सि. है. ५।१।५४] इत्यनेन कप्रत्ययः । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधीः ? 'अकेकरः' न केकरः अकेकरः—अवक्रदृष्टिरित्यर्थः। पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधीः ? 'अमारमन्दारसमीरकन्धरप्रकारः' मारः—कन्दर्पः न मारः—अमारः, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अमारः—कुत्सितकन्दर्पः, स एव मन्दारः—मन्दारवृक्षस्तं समीरयति—सम्यक् प्रेरयति यः स अमारमन्दारसमीरः, कन्धरः—जलदस्तत्प्रकारः—तत्समानो दानेनेति गम्यते यः स कन्धरप्रकारः, द्वाभ्यां कर्मधारये अमारमन्दारसमीरकन्धरप्रकारः । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'आचारवित्' आचारं वेत्तीति स तथा । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधी ? 'इ' दीप्तः "इल् कान्तौ" क्विबन्तः, ईरयति—क्षिपति पापमिति वा ईर्, "ईरण् क्षेपे" क्विबन्तः, पापनाशक इत्यर्थः । पुनः किम्भूत उदारसम्भारसुधीः ? 'अनीवरः' न विद्यते नीवरः—पुरुषाकारो यस्य स तथा, सिद्धत्वात्, उणादिकोऽयम्, "णीङ् प्रापणे" नीमीकुतुचेर्दीर्घश्च" [सि. हे. उ. सू. ४४३] इत्यनेन वरट् प्रत्ययः, "नीवरः पुरुषाकारः" ॥७॥

विभोरमोमोरमणोरगोचर-
विकारसंहारकरोरडिङ्गरः ।

जहार कण्ठीरववारसत्तर!,
स वीरकः स्मेरमुखो रसातिरम् ॥८॥

व्याख्या—हे 'कण्ठीरववारसत्तर!' कण्ठीरवाणां–सिंहानां वारः–निवारणं तस्मिन् सत्–प्रशस्तं तरः–बलं यस्य स कण्ठीरववारसत्तर! हे सुहृत्!, सः 'वीरकः' वीर एव वीरकः–सुभटः अरनाथजिनो 'जहार' अपनयति स्म । किं तत् ? 'अं' व्याधिं "अं मान्तो ब्रह्मसंवादे, परब्रह्मप्रवाचकः । व्यसने व्याधिते व्याधौ" [वि. ए. १८] इत्युक्तेः । सः कः ? यत्तदोर्नित्याभिसम्बन्धाद् यस्माद्विभोः–स्वामिनः 'अभीभोः' रूपं कृतवान् । कः ? 'अडिङ्गरः' न विद्यन्ते डिङ्गराः–दासाः यस्य स अडिङ्गरः प्रकरणात् साधुजनः । किम्भूताद्विभोः ? 'अमगोः' न विद्यते मा–मानं येषां ते अमाः–निष्प्रमाणा गावः–दीप्तयो यस्य स अमगुस्तस्मात्तथा । पुनः किम्भूताद्विभोः ? 'अगोचरविकारसंहारकरोः' न गोचरो यस्मिन् स अगोचरः–अलक्ष्य इत्यर्थः, "विकारो विकृतौ रोगे" [अने. सं. कां. ३ श्लो. १२०३] इति वचनात्, विकाराणां–रोगाणां संहारं–विनाशं करोतीति विकारसंहारकरः, अगोचरश्चासौ विकारसंहारकरश्च अगोचरविकारसंहारकरः, एवम्भूतः आ–शर्मो यस्य स अगोचरविकारसंहारकरास्तस्मात्तथा । "आनन्दः पावके सूर्ये शर्मे" [ए. श्लो. ११] इति विश्वशम्भुवचनप्रामाण्यात् । किम्भूतो वीरकः ? 'स्मेरमुखः' स्मेरं–विकस्वरं मुखं यस्य स तथा । पुनः किम्भूतो वीरकः ? 'रसातिः' रस्य–धनस्य "रं रत्नं रोदनं धनम्" [सौ. ए. श्लो. ६३] सातिः–दानं यस्य स तथा, "षणूयी दाने" इति धातोः क्तिप्रत्यये रूपम् ॥८॥

भ्रमरवृत्तिरनन्तरमक्षरं,
वितर मे ह्यरणः सुरकन्नर! ।
इषिरवागरभन्दरचत्यरः,
कमरतामरसाक्षिरमाधरः ॥६॥

व्याख्या—हे 'सुरकन्नर!' सुराणां—देवानां कं—सुखं नरयति—नयति यः स सुरकन्नरस्तस्यामन्त्रणं हे सुरकन्नर!, "नृ नीतौ" अजन्तः, हे अरजिन! 'मे' मम 'अक्षरं' मुक्तिं 'वितर' प्रयच्छ । 'हि' इति निश्चये । किम्भूतं अक्षरं? 'अनन्तरं' न विद्यन्ते अन्तराणि—रन्ध्राणि यस्मिंस्तत्तथा तत् । किम्भूतस्त्वम्? 'भ्रमरवृत्ति' भ्रमरः—मधुकरस्तद्वद् वृत्तिः—वर्त्तनं यस्य स तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अरणः' सङ्ग्रामहीनः, शत्रूणामभावात् । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'इषिरवागरभन्दरचत्यरः' इषिराः—सेव्याः, यदुक्तमुणादिवृत्त्यां — "इषिर अग्निः आहारः क्षिप्रः सेव्यश्च" [सि. हे. उ. सू. ४१६] इति, वागराः—विद्वांसोऽन्तिपदः, यदुक्तं हैमानेकार्थे —

"वागरो वारके शाणे, निर्णरे वाडवे वृके ॥
मुमुक्षौ पण्डिते चापि, [परित्यक्तभयेऽपि च] ।"
[अने. स. कां. ३ श्लो. ११९९, १२००]

इति, इषिराश्च ते वागराश्च इषिरवागरास्तेषां भन्दरचनं—भद्ररचनं[१] इयर्त्ति यः स तथा, "रचण् कृत्यां" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति तिवि सिद्धम् । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'कमरतामरसाक्षिः' कमरं—कोमलं "कमरो मूर्खः कार्मुकं

१. "भन्द कल्याणे सौख्ये च" [अने. नं. कां. २ श्लो. २४३]

कोमलं चौरः[कान्त]श्च"[सि. हे. उ. सू. ३६७]इति हैमोणादिवृत्तिवचनात्, यत्तामरसं–पद्मं ततुल्ये अक्षिणी–नेत्रे यस्य स तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अमाधरः' न मा अमा–अमाया तां धरति यः स तथा । "मा माया" इति गोपालभट्टीवचनप्रामाण्यात् ॥९॥

चटरविघ्नरवैरिरसाहरः,
स्वतरसा स्परणं करताद् गरः ।
सुनर आदरतः स्मरतीदरः,
स विरसः सरलस्वरणस्तरः ॥१०॥

व्याख्या — 'सः' अरनाथजिनः 'स्परणं' रक्षणं 'करतात्' क्रियात् । "स्मृ स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणने" अनट्प्रत्ययान्तः। किम्भूतः सः? 'स्वतरसा' स्वबलेन-स्वकीयवीर्येण 'चटरविघ्नरवैरिरसाहरः' चटराः–तस्कराः, "चटण् वेष्टने" उणादिकोऽरप्रत्ययः, चटरः–तस्करः विघ्नं–उपद्रवं रातीति विघ्नराः ते च ते वैरिणश्च विघ्नरवैरिणः, चटराश्च विघ्नरवैरिणश्च चटरविघ्नरवैरिणस्तेषां "रं तीक्ष्णे कर्कटे दृढे" [वि. ए. १०१.]इत्युक्तेः रा–दृढा या सा–लक्ष्मीस्तस्या हरः–हरणं यस्य स तथा । किम्भूतः सः ? 'गरः' "गॄ घृ सेके" गरति–भविकजनं देशनाजलेन सिञ्चति यः स तथा । स इति कः ? यं 'सुनरः' शोभनपुमान् 'आदरतः' आदरात् 'स्मरति' ध्यायति, जातावेकवचनम् । पुनः किम्भूतः सः? 'इदरः'[इः–]कामस्तं दुर्गिद्द्विषि (?) दृणाति यः स तथा । पुनः किम्भूतः सः ? 'विरसः' विगतरसः । पुनः किम्भूतः सः ? 'सरलस्वरणः' सरलाः–अकुटिलास्तेषु स्वरणं–अतिशयेन गमनं

यस्य यस्माद्वा स तथा । पुनः किम्भूतः सः? 'तरः' तरति दुस्तरं संसारसागरमिति स तथा ॥१०॥

सुचरणं चरतः किरतः करं,
प्रहरतः करणं धरतः सुरम् ।
व्रतरतश्चिरमाशरणाङ्गरः,
सुनुरकं क्षुरतादुरगादरः ॥११॥

व्याख्या—'अरः' अरजिनः 'अकं' दुःखं 'क्ष-[? क्षु]रतात्' छिन्द्यात् । कस्मात्? 'उरगात्' उरगः—सर्पस्तत्प्रायत्वाद् उरगः संसारस्तस्मात् । कस्य? 'सुनुः' श्रावकस्येति यावत् । किम्भूतस्य सुनुः? 'सुचरण' सुष्ठु चारित्र देशविरतिलक्षण 'चरतः' सेवमानस्य । पुनः किम्भूतस्य सुनु? 'कर' "कृञ् वधे" अलन्तः, करं—वधं 'किरतः' क्षिपतस्त्यजत इति यावत् । पुनः किम्भूतस्य सुनुः? 'करण' इन्द्रिय प्रहरतः । पुनः किम्भूतस्य सुनु.? 'सुरं' सुष्ठु रा—दीप्तिर्यस्य स सुरस्त सुर—जिन 'धरतः' बिभ्रतः, मनसीति गम्यम् । पुनः किम्भूतस्य सुनु.? 'चिर' चिरकालं 'व्रतरतः' व्रतानि द्वादशसङ्ख्याकानि, तेषु रमते इति व्रतरत् तस्य, "गमा क्वौ" [सि. हे. ४।२।५८] इति सूत्रेण क्विपि सिद्धम्। अकारः पादपूरणार्थः । किम्भूतोऽरः? 'अशरणाङ्गरस्' "शृश् हिंसने" अनट्प्रत्ययान्तः, न विद्यते शरणं—हिंसन येषां श्रवणात् तानि अशरणानि, एवम्भूतानि यानि अङ्गानि—आचाराङ्गाद्येकादशाङ्गानि तानि, "रस् शब्दे" क्विबन्तः, रसति—शब्दायते यः स तथा ॥११॥

धीरैरमारिरमृतं रडामरं
सभ्यैरभाणि रसनं रतान्तरम् ।
उच्चैरभीतिरनगारशिशिरः,
पातूरनूतिरनपूरघृष्टिरम् । ॥१२॥

ललिता-छन्दः[1]

व्याख्या—स इति पदमध्याहार्यम् । 'अनगारशिशिरः' न विद्यते[2]अगारं–गृहं येषां ते अनगाराः–साधवस्तेषां शिशिरः–पुञ्जो यस्मिन् सोऽनगारशिशिरः–श्रीअरनाथतीर्थंकरः 'पातु' रक्षतु । कं ? 'अं' जनं "अः कृष्णः शङ्करो ब्रह्मा, शक्रः सोमोऽनिलोऽनलः । सूर्यः प्राणो जनः" [सौ. ए. २] इति **सौभरि**-वचनात्। स कः? यस्य 'रसनं' ध्वनितं "रसनं ध्वनिते"[अने.सं. का. ३ श्लो. १००१] इति वचनात् । 'अमृतं' सुधासमं 'उच्चैः' अतिशयेन 'अभाणि' कथितं, अमृतमपि सर्वजनतुष्टिपुष्टिकरं तथेदमपि। कैः? 'धीरैः' विद्वद्भिः । किम्भूतैः धीरैः ? 'सभ्यैः' सभायोग्यैः। किम्भूतं रसनं? 'रडामरं' "रय गतौ" "क्वचित्" [सि.हे.पा.५।१।७१]इइति,रयन्ते-तीर्थंकरविलोकनावपि नष्ट्वा यान्ति ये ते राः–दौर्भव्यास्तेषां डामरं–भयङ्करं यत्तत्तथा तत् । पुनः किम्भूतं रसनं ? 'रतान्तरं' रतानां–वचनश्रवणाऽऽसक्तानां अन्तरं–अवधिर्धर्ममर्यादा यस्मात्तत्तथा तत् ।

"अन्तरं रन्ध्रावकाशयोः ॥
मध्ये विनार्थे तादर्थ्ये विशेषेऽवसरेऽवधौ ।"
[अने. सं. का. ३ श्लो. १११४–१११५]

---

१. "धीरैरभाणि ललिता तभौ जरौ" ३।५७ इति वृत्तरत्नाकरः।
२. "स्यादागारमगारवत् ।" शब्दरत्नाकरः कां ४श्लो.. ३६.

इति हेमसूरय:। किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अमारिः' न विद्यते मारिः–मरणं यस्मिन् स तथा । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः? 'अभीतिः' निर्भयः । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'ऊः' निशाकरः, तद्वदाह्लादकत्वात् । "ऊः परेतो जडत्वष्टा, विवस्वानग्निसारथिः । वह्निर्निशाकरः" [सौ. ए. ७] इति वचनात् । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः? 'अनूतिः' न विद्यते नूतिः–स्तवनं अन्येषां देवानां यस्मिन् स तथा, अस्तोता इत्यर्थः । पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अनपूः' "पुरस् अग्रगमने" क्विपि पूः–अग्रेसरः, न पूः अपूः, न अपूः अनपूः, अग्रेसर इत्यर्थः। पुनः किम्भूतोऽनगारशिशिरः ? 'अघृष्टिः' न विद्यते घृष्टिः–स्पर्द्धा यस्य स तथा, "घृष्टिः स्पर्द्धाघर्षणयोः" [अने. सं. कां. २ श्लो. १०३] इति हैमानेकार्थोक्तेः ॥ १२ ॥

अररतात् परणं जरणं भर-
मररहच्च र आभरपा खरः ।
नघरणं शरणं वरताद् घुरः,
सुखरयोऽमरवो भरतस्मरः ॥१३॥

द्रुतविलम्बितच्छन्दः[1]

व्याख्या—स इति पदमध्याहार्यम् । 'सुखरयः' सुखस्य रयः–प्राप्तिर्यस्मात् सुखरयः–श्रीअरनाथजिनः' 'शरणं' त्राणं–रक्षणं 'वरतात्' क्रियात् । कथम्भूतं शरण ? 'नघरणं' "घृ-भासि" अनटि घरण, नानां–नराणां घरणं–भासनं यस्मात्तत् तथा तत्,"नो नरे च सनायेऽपि" [वि.ए.७६] इत्युक्तेः। कस्य ?

१. "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ" [३।४८] वृत्तरत्नाकरः।

'रः' "रा दानाऽऽदानयोः" इत्युक्तेः राति–पञ्चमहाव्रतभारं गृह्णाति यः स रास्तस्य रः–साधोः, जातावेकवचनम् । स कः? यः 'परणं' "पृंट् प्रीतौ" अनप्रत्ययः, परणं–प्रीतिं 'अररतात्' अनिर्मापयत् । 'चः' पुनरर्थे, यः 'जरणं' न्यक्कारं 'अररहत्' अत्यजयत् । कथं? 'भरम्' अतिशयेन, केन? 'आभरपा' आं–लक्ष्मी बिभर्त्ति–पुष्णाति योऽसौ आभरः, पाति–संसारदुःख-जरामरणतो जगत्त्रयं रक्षति योऽसौ पाः–धर्मः, आभरश्चासौ पाश्च आभरपास्तेन आभरपा । किम्भूतः सुखरयः? 'खरः' धर्मव्यवहारपटुः "सत्यसन्धः खरो ज्ञेयः, खरोऽपि पुरुषो मतः । खरो रासभ इत्युक्तो, व्यवहारे पटुः खरः ॥१॥ इति ध्वनि-मञ्जर्याम् । पुनः किम्भूतः सुखरयः? 'घुरः' "घुरश् ध्वनौ भीमार्थे" अजन्तः, घुरति–शब्दयति स्याद्वादमिति असकौ तथा । पुनः किम्भूतः सुखरयः? 'अमरदः' "अम रोगे" अमाः–रोगास्तान् "रद विलेखने" रदति योऽसौ तथा । पुनः किम्भूतः सुखरयः? 'भरतस्मरः' भरताः–प्राणिनः, यदुक्तमुणादौ—"भरतः मृत्युः अग्निः प्राणी च" [सि. हे. उ. सू. २०७] इति तैः स्मर्यते यः स तथा ॥१३॥

चकोर भट्टारकपौरयोः पुरः,
शमारवाहारमदौरघर्घरः ।
कठोरकान्तारसुवारणस्थिरः,
कठोरकालूरविदारसायुरः ॥१४॥

व्याख्या—'अघर्घरः' न विद्यते घर्घरः–हास्यं यस्याऽसौ अघर्घरः–श्रीअरनाथजिनः'शमारवाहारं' शं–सुखं [त]स्य 'आरः' प्रापणं यस्मात् स शमारः, ऊः–रक्षाः "ऊः शब्दो रक्षणे" इति

[१] विश्वशम्भूक्तेः, तं आहारयति–आनयति यः स वाहारः–धर्मः, शमारश्चासौ वाहाराश्च शमारवाहारस्तं शमारवाहारं–धर्मं 'चुकोर' कथयाञ्चकार, "कुरत् शब्दे" इत्यस्य परोक्षायां णपि रूपम् । क्व? 'पुरः' अग्रे, कयोः? 'भट्टारकपौरयोः' भट्टारकाः–पूज्याः प्रस्तावाद् गणधरा देवा वा, पौरः–नागरः, भट्टारकश्च पौरश्च भट्टारकपौरौ तयोः, अत्र जातावेकवचनम् । किम्भूतोऽघर्घरः? 'अदौः' न दुनोति जनान् क्विपि अदौः । पुनः किम्भूतोऽघर्घरः? 'कठोरकान्तारसुवारणस्थिरः' कठोरः–दरिद्रः भावप्रधाननिर्देशात् कठोरः–दारिद्र्यम्, उणादिकोऽयं शब्दः, स एव कान्तारं–वनं[तत्र]सुवारणाः–शोभनगजास्तेष्वपि स्थिरः–दृढो यः सः सुवारणस्थिरः, तद्भञ्जने सुवारणस्थिर इव सुवारणस्थिरो यस्य[? यः स] तथा । पुनः किम्भूतोऽघर्घरः? 'कठोरकालूरविदारसायुः' कठोरं–दृढं कं–दुखं येषां ते कठोरकाः, "क शिरः कं सुखं तोयं, पयो दुःखम्" [सौ. ए. २०] इत्युक्तेः, कठोरकाश्च ते आलूराश्च–विटाः कठोरकालूरास्तेषां विगतो दारः–भयं यस्मात् स कठोरकालूरविदारः, आलूरशब्द उणादिर्विटवाची, सायाः–लक्ष्म्याः आयुः–जीवनं यस्मात् सायुः, द्वाभ्यां कर्मधारये कठोरकालूरविदारसायुः, "इण्क्गतौ" "कृवापाजिस्वदिसाध्यशौ स्नासनिजनिरहीण्भ्य उण्" [सि. हे. उ. सू. १] इति सूत्रेण उण् प्रत्यये आयुरिति, "पुरुषः शकटं औषधं जीवनं पुरुरवः पुत्रो वा" इति । अकारः पादपूरणार्थः ॥१४॥

---

१. उदरणमिदं विश्वशम्भुप्रणीतैकाक्षरनाममालाया "ऊ.–रक्षार्थवाचकः ॥१३॥" इति रूपेण विद्यते ।

विज्ञैरमानैरसितैरकारि र-
मर्च्यैरनाकैरहतैररुड्भिर।
देवैरसानैरसनैरसंहर!
लक्ष्मीं ररौ धीरकुटेर! सोऽध्वरः ॥१५॥

व्याख्या—हे 'अकुटेर!' कुटेरः—शठः, न कुटेरः अकुटेरस्तत्सम्बोधनं हे अकुटेर!—हे पण्डित! 'सः' अरजिनः 'लक्ष्मीं' श्रियं 'ररौ' ददौ। किम्भूतः सः? 'धीः' "ध्यै चिन्तायाम्" ध्यायतीति क्विपि धीः, ध्यातेत्यर्थः। पुन. किम्भूतः सः? 'अध्वरः' "ध्वृ कौटिल्ये" न ध्वरति यः स तथा। स कः? यस्य 'विज्ञैः' विद्वद्भिः 'र' "रै शब्दे" डे प्रत्यये रायते—शब्दयते जनैरिति, गुणगानं 'अकारि' कृतम्। किम्भूतैर्विज्ञैः? 'अमानैः' निरहङ्कारैः। पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः? 'असितैः' अबद्धैः। पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः? 'अहतैः' अवधकस्य 'अर्च्यैः' अर्चनीयैः। पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः? 'अनाकैः' "अन प्राणने" अनन्ति—जीवन्तीति अनाः—प्राणिनस्तेषां आ—समन्तात् कं—सुखं येभ्यस्ते अनाकास्तैः। पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः? 'अरुड्भिः' न विद्यते रुट्—ईर्ष्या येषां ते अरुषस्तैः। अत्राकारः सम्बोधनार्थमव्ययम्। पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः? 'देवैः' "दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुति [मोदमदस्वप्न-कान्ति] गतिषु" इति वचनात्, दीव्यन्ति—स्तुवन्तीति देवास्तैः, स्तोतृभिरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैर्विज्ञैः? 'असानैः' "षोच् नाशे" अनटि सानम्, न विद्यते सानं—नाशो येषां ते असानास्तैः। किम्भूत हे अकुटेर!? "षण् सम्भक्तौ", "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. है. ५।३।१३८] इति इप्रत्यये सनिः—भक्तिः, न विद्यते सनिर्यस्य

स असनिस्तस्य असनेः—अभक्तस्य 'असंहर', न विनाशक!, निरीर्ष्यत्वाद् भक्ताभक्तयोरुपरि समचेताः ॥१५॥

ववार लक्ष्मीररतीरधीश्वरः,
समीरकण्डूरसुधीरकट्वरः ।
सुधारभृत्पूरतुषारदीप्तिरः,
सुनारशौण्डीरकुटीरतुष्टिरः ॥१६॥

व्याख्या—'अधीश्वरः' श्रीअरनाथजिनः 'लक्ष्मीः' श्रीः 'ववार' वृतवान् । लक्ष्मीरित्यत्र बहुवचनं नानाप्रकारत्वात् सङ्गतमेवेति । किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'अरतीः' अरतिं—असुखतां एति—क्षिपति योऽसौ तथा, "इण् क्षेपे" क्विबन्तः । पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'समीः' सह मया—लक्ष्म्या वर्त्तन्ते ये ते समास्तैः अवति—वर्द्धते यः स तथा, अत्र अवधातुर्वृद्ध्यर्थो ज्ञेयः । पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'अकण्डूरसुधीः' न कण्डूराः अकण्डूराः—अकण्डूमन्तः सुधियः—पण्डिता यस्य स तथा । कण्डूर इति कथं शब्दनिष्पत्तिः? उच्यते—"मध्वादिभ्यो रः" [सि हे.७।२।२६] मध्वादिभ्यो मत्वर्थे रः प्रत्ययो भवति इति सिद्धं रूपम् । पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'अकट्वरः' "कट्वरस्त्वतिकुत्सितः" [अभि. चि. का. ३ श्लो. १४] इति हेमसूरयः, न कट्वरो अकट्वरः, अकुत्सित इत्यर्थः । पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः ? 'सुधारभृत्पूरतुषारदीप्तिरः' "धारोत्कर्षे खड्गाद्यग्रे, सन्याग्रे वाजिनां गतौ ॥ जलादिपाते सन्तत्यां" [अने. सं. का. २ श्लो. ४३८-४३९] इति हैमानेकार्थवचनात् । सु—शोभना धारा—सन्ततिः शिष्यप्रशिष्यादिका येषां ते सुधाराः, "डुभृञ् धारणपोषणयोः"

बिभ्रति-धारयन्ति गणमिति भृतः-गणधरास्त्रयस्त्रिंशत्सङ्ख्याकाः, सुधाराश्च ते भृतश्च सुधारभृतस्तेषां पूरः-सुधारभृत्पूरः तदाह्लादकत्वेन तुषारदीप्तिः-चन्द्रमास्तद्वद् राजते-शोभते यः स तथा। पुनः किम्भूतोऽधीश्वरः? 'सुनारशौण्डीरकुटीरतुष्टिरः', नराणां समूहो नारं, सुष्ठु नारं सुनारं, तस्मिन् शौण्डीराः-सत्त्ववन्तो ये ते सुनारशौण्डीरास्तेषां कुटीरः-राशिस्तस्य तुष्टेः-सन्तोषस्य रा-दानं यस्य स तथा। कुटीरशब्दः औणादिकोऽस्ति राशिवाचकः ॥१६॥

भव्यैरगोभिरहितैरयुतैरकह्वरं,
हीनैरधीभिरमितैरकरैरदुर्मुरः।
सुस्वैरमाररमणैरजितैरकार्यरं,
पुष्टैर नूतिरगदैरनरीरतैः पुरः ॥१७॥

मृदङ्गकच्छन्दः।[1]

व्याख्या—'अदुर्मुरः' "मूर्वी हिंसायां" क्विबन्तः, दुष्टा मूः-दुर्मूः, न विद्यते दुर्मूः-जीवहिंसा यस्यासौ अदुर्मूस्तस्य अदुर्मुरः-श्रीअरनाथजिनस्य 'अरं' अत्यर्थं 'नूतिः' स्तुतिः-गुणोत्कीर्त्तनं 'अकारि' कृता। 'कैः? 'भव्यैः' भविकजीवैः इति सम्बन्धः। कथमकारि? 'अकह्वरं' "ह्वृ कौटिल्ये" अलन्तः, अकाद्-दुःखाद् ह्वरः-कौटिल्यं यस्मात्तत् अकह्वरं-ससुरमित्यर्थः, एवं यथा स्यात्तथा। अथ भव्यानां विशेषणानि—किम्भूतैर्भव्यैः? 'अगोभिः' न विद्यते गावः-किरणाः येषां ते अगावः-अदीप्तास्तैः अगोभिः 'अहितैः' शत्रुभिः 'अयुतैः' न सहितैः, निस्तेजःशत्रु-

1. "रमौ जौ रो मृदङ्गकः" [२-२६१] छन्दोनुशासनम्।

रहितैरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'अधीभिः' न धियः अधियः, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अधियः–कुबुद्धयस्ताभिः अधीभिः–कुबुद्धिभिः 'हीनैः' रहितैः,सुमतिभिरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'अमितैः' न प्रमितैः, प्रचुरैरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'अकरैः' दण्डरहितैः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'सुस्वैः' शोभनद्रव्यैः, धर्मोपार्जितधनत्वात् । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'अमाररमणैः' न विद्यन्ते माराः–विघ्ना येषां ते अमाराः–निर्विघ्नाः, अत एव रमणाः–रमणीया ये तेऽमाररमणास्तैः। पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'अजिनैः' अपराभूतैः । पुनः किम्भूतैर्भव्यैः? 'पुष्टैः' पुष्टिमद्भिः, अकारः पादपूरणार्थमव्ययम्, अत एव 'अगदैः' नीरोगैः। किम्भूतस्य अदुर्मुरः? 'अनरीरतः' न अरयः–न शत्रव इति अनरयः–मित्राणि तेषां ईरति–धर्मादिकार्येषु प्रेरणा यस्य स तथा तस्य। "ईर् प्रेरणे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।१।१३८] इति तिवि ईरति सिद्धम् । पुनः किम्भूतस्य अदुर्मुरः? 'पुरः' "पुरत् अग्रगमने" क्विवन्तः, पूः–अग्रेसरस्तस्य ॥१७॥

कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गसारं,
　　मठरविसरनाशं रण्डभारण्डचारम् ।
अमरनिकरपूज्यं रङ्ककारङ्गपारं,
　　वमरकृदरसङ्गारक्तमारं सुतारम् ॥१८॥

मालिनीछन्दः[1]।

---

१. "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" [३।८१] वृत्तरत्नाकर।

व्याख्या—'सुतारं' सुष्ठु तारं-उच्चैः धमि[? ध्वनि] र्यस्य स [तं] सुतारं-श्रीअरनाथजिनं अहं 'आरं' प्राप्तवान्, देवत्वेनेति गम्यम् । किम्भूतं सुतारं ? 'कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गसारं' कठरः-दरिद्रः, भावप्रधाननिर्देशात् कठरः-दारिद्रयं स एव कदरः-वृक्षविशेषस्तस्य भङ्गः-भञ्जनं तस्मिन् कठरकदरभङ्गे रम्यसारङ्गतारमिव-प्रधानहस्तिवलमिव रम्यसारङ्गसारस्तम् । कठरकदरशब्दावौणादिकौ । पुनः किम्भूतं सुतारं ? 'मठरविसरनाशं' मठराः-अज्ञानिनः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"मठरं ऋषिः अज्ञानी गोत्रं च" [सि. हे. उ. सू. ३९७] इति, तेषां विसरः-समूहस्तस्य[1] नाशो यस्मात् स मठरविसरनाशस्तम् । पुनः किम्भूतं सुतारं ? 'रण्डभारण्डचारं' रण्डाः-निस्त्रीकाः भरण्डाः-भण्डाः भरण्डानां समूहो भारण्डं, रण्डाश्च भारण्डानि च रण्डभारण्डानि चरणं चारः, रण्डभारण्डानां चारः-गमनं यस्मात् स तथा तम् । पुनः किम्भूतं सुतारं ? 'अमरनिकरपूज्यं' अमराः-देवास्तेषां निकरः-वृन्दं तस्य पूज्यः-पूजनीयो यः स तथा तम् । पुनः किम्भूतं सुतारं ? 'रङ्गकारङ्कपारं' करङ्काः-कर्मशीलाः, करङ्का एव कारङ्काः, स्वार्थे अण्, रङ्गस्य-हर्षविशेषस्य कारङ्का ये ते रङ्गकारङ्कास्तेषां पारः-पालनं यस्य स तथा तम् । पुनः किम्भूतं सुतारं ? 'दमरकुदरसङ्घारक्तं' दमराः-दुर्दमसो ये कुदराः-सर्वकर्मप्रवृत्तदस्युजनास्तेषां सङ्घो दमरकुदरसङ्घस्तत्र अरक्तः-अनासक्तो यः स तथा तम् ॥१८॥

१.-स्तस्नाशो यस्य इति मूलादर्शे पाठः ॥

विभुरनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूर-
प्रपुरजदरहोभी रक्षकै रज्यसेऽर !।
यतिरदितिरहङ्कारक्षितेरक्षधार-
मकरमुदिरसुश्रीरद्रसंरम्भवारः ॥१६॥

व्याख्या—हे 'अर!' अरनाथ! त्वं 'रज्यसे', रङ्गं कुरुषे। कैः? 'रक्षकैः' रक्षन्तीति रक्षकास्तैः रक्षकैः, साधुभिरित्यर्थः। किम्भूतैः रक्षकैः? 'अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूरप्रपुरजदरहोभिः' न विद्यते अकं—दुःखं यस्मिन् सोऽनकः एवम्भूतो रसङ्घः—धनसमूहो यस्याः सा अनकरसङ्घा, सा चासौ आ च—लक्ष्मीः अनकरसङ्घा, तया रञ्जिता—रसीकृता आरक्षणशूराः—समन्ताज्जीवपालनसुभटाः ये ते अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूराः "पुर् पुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः" प्रपुरति—प्रकर्षेण सर्वज्ञानोत्तमत्वाद् ईष्टे यत्तत् प्रपुरं—केवलज्ञानं तेन जत्—उत्पद्य जायमानं अरहः—अच्छन्नं येषां ते प्रपुरजदरहसः,अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूराश्च ते प्रपुरजदरहसश्च अनकरसङ्घारञ्जितारक्षणशूरप्रपुरजदरहसस्तैः। जत् इति कथं निष्पत्तिरिति? "जनैचि प्रादुर्भावे" इति धातोः शतरि जञ्जन्तीति वाक्ये "जाज्ञा—"[सि.हे. ४।२।१०४] इति सूत्रेण आदेशे "श्नश्चातः" [सि.हे. ४।२।९६] इत्यालुकि जत् इति सिद्धम्। किम्भूतस्त्वं हे अर! ? 'विभुः' स्वामी, सामान्यकेवलिनामिति गम्यते। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'यतिः' साधुः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अदितिः' अखण्डनः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अहङ्कारक्षितेः' अहङ्कारस्य—स्मयस्य क्षितं—क्षयं एति—प्राप्नोति यः स तथा। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अक्षधारम-

करमुदिः' अक्षः–ज्ञानं, "अक्षो रथस्यावयवे, व्यवहारे विभीतके। [1]प्रासके शकटे कर्षे, तुषे ज्ञानात्मयोरपि ॥" [अने. सं. का. २ श्लो. ५६०] इति हैमानेकार्थोक्तेः, अक्षं–ज्ञानं धरतीति अक्षधारः, कर्मण्यण्, मकरः–निधिविशेषः, स इव मुदिः–प्रमोदो यस्मात् सः मकरमुदिः, यथा हि दरिद्राणां निधिविलोकनात्प्रमोदस्तथा अस्मादपीति, "मुद् हर्षे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति इप्रत्ययः, अक्षधारश्चासौ मकरमुदिश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अमुश्रीः' एषु–जनेषु सुश्रीः–शोभनश्रीर्यस्यासौ तथा, "अः कृष्णः शङ्करो ब्रह्मा, शक्रः सोमो-ऽनिलोऽनलः। सूर्यः प्राणो जनः" [सौ. ए. २] इति वचन-प्रामाण्यात्। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अट्टसरम्भवारः' अट्टं–अत्यर्थं संरम्भः–संरम्भोऽर्हतां यस्मिन् स अट्टसंरम्भः–निःश्रेयसं, तस्य वारः–वरणं यस्य स तथा, "अट्टो हट्टाट्टालकयोर्भृशे"। [अने. सं. का. २. श्लो. ६४] इति वचनात् ॥१९॥

नार्यरंनुत्तरनरैरभिहारसत्वरं-
भद्रैरवैरहरैरमलैरघाशरः।
देवैरवस्करहरैरवहारकूत्कर-
नष्टैरपाठि रसिकैरदरैरवल्लरः॥२०॥

मुरजबन्धच्छन्दः।

व्याख्या—अनुत्तराः–प्रधानाः ये नराः–मनुष्याः अनुत्तरनरास्तैः अनुत्तरनरैः, अयं गुरुरिति शेषः, 'अघाशरः' "शॄ, हिंसने" अलन्त., अघानां–पापानां आ–समन्तात् शरः–हिंसनं

१. "पाशके शकटे कर्षे, ज्ञाने चात्मनि रावणौ"। इति मुद्रिते

यस्मात् स. अघाशरः–पापनाशकः 'अपाठि'-पठित इति सम्बन्धः। किम्भूतोऽघाशरः ? 'अवल्लरः' "वल्लरं कुञ्जमञ्जर्योः क्षेत्रे [ऽनम्भसि शाद्वले ।]" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११६८]-इति भणनाद्, न विद्यन्ते वल्लराणि–क्षेत्राणि धान्यवपनस्थानानि यस्यासौ तथा, त्यक्तगृहवासत्वात्। अथ सर्वाणि तृतीयाविशेषणानि—किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'नाथैः' स्वामिभिः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'अभिहारसत्वरभद्रैः' "अभिहारः सन्नहने, चौरिकोद्यमयोरपि" [अने.सं.का. ४ श्लो, १६०८] इत्युक्तेः अभिहारेण–उद्यमेन सत्वरं–त्वरितं भद्रं–मङ्गलं येभ्यस्ते तथा तैः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'अद्वैः' न घ्नन्ति जीवानिति अदास्तैः, दयावद्भिरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'अरहरैः' ऋणन्ति–प्राणिनोऽत्यन्तदुःखं प्राप्नुवन्ति येभ्यस्तानि अराणि–घातिकर्माणि, तानि हरन्तीति अरहरास्तैः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'अमलैः' निर्मलैः, गुणोज्ज्वलैरित्यर्थः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'देवैः' दीव्यन्ति–धर्मे रमन्ते इति देवास्तैः, अथवा 'देवैः' सुरैः। किम्भूतैः सुरैः? 'अवस्कररहैः' "रह. त्यजि" अलन्तः, अवस्करस्य–गूथस्य रहः–त्यजनं येषां ते तथा तैः, "अवस्करो गूथगुह्यग्रोः" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६०७] इत्युक्तेः, देवानामाहाराभावे नीहारस्याप्यभाव इति। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'अवहारकूलकरनष्टैः' "अवहारस्तु युद्धादिविश्रान्तौ ग्राहचौरयोः।" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६०८] इत्युक्तेः अवहाराणा–चौराणां यः कूलकरः–कुत्सितमम्हस्तस्मात्प्रष्टा गता ये ते तथा तैः। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'रसिकैः' इति सुगमम्। पुनः किम्भूतैरनुत्तरनरैः? 'अदरैः' निर्भीकैः ॥२०॥

खरभिमरनाशं रञ्जनारन्तिभूर-
हमुर दघर वाढं रङ्कनारङ्गमोर !।
प्रखरमिहिरकान्तेरन्धकारक्षयोर-
समररिपुरनिष्टारक्षसोऽरम्भघूर !॥२२॥

मालिनीच्छन्दः।

व्याख्या—हे 'रञ्जनारन्तिभूः!' रञ्जनाः—रञ्जकाः "रञ्जनं रञ्जके" [रक्तचन्दने]" [अने सं. का. ३ श्लो. १००२] इति वचनात्, [तेषां] या आ—लक्ष्मीस्तया रम्यादिति रञ्जनारन्तिः, "तिक्कृतौ नाम्नि" [सि. हे. ५।१।७१] इत्यनेन सूत्रेण सिद्धिर्भवति, भद्रं यस्मात् सः भूः, तिक्वन्तः, रञ्जनारन्तिश्चासौ भूश्च रञ्जनारन्तिभूस्तत्सम्बोधनं हे रञ्जनारन्तिभूः! हे अरनाथ! अहं 'वाढं' अत्यर्थं 'दघर' कृतवान्। किं तत्? 'अभिमरनाशं' "अभिमरो वधे ॥ स्वबलात् साध्वसे [युद्धे]" [अने. सं. का. ३. श्लो. १६०५, १६०६] इति हैमानेकार्थवचनात्, अभिमरस्य—साध्वसस्य नाशः अभिमरनाशस्तं—अभिमरनाशं—भयनिर्नाशं, कस्मात्? 'उः' धर्मात्। "ऊशब्दः पावके सूर्ये धर्मे [दानं धने पुमान्]" [ए. ना. ११] इति विश्वशम्भुवचनात्। 'अः' पादपूर्त्तौ। किम्भूतो हे [रञ्जनारन्तिभूः!?] 'मरुः' निर्दोषत्वान्निर्मलः "[1]गरुः मौदर्याहरयोर्दर्दन्तसितेषु च।" [अने सं. का. २ श्लो. ४१४] इति वचनात्। किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभूः!? 'रङ्कनारङ्गमोः!' रङ्कानि—कृपणानि यानि नारङ्गानि—जन्मिनः "नारङ्गं विटजन्मिनोः" [अने. सं. का ३ श्लो. ७२१] इति

१. "गरुः स्यादरवहरयोः" इति मुद्रिते।

वचनात्, तेपा मां–लक्ष्मी अवति–नाशयति योसौ रङ्कनार-ङ्कमौ., तस्य सम्बोधनं हे रङ्कनारङ्कमौ. ! । एवंविधोऽत्र अकारो निषेधार्थः । पुनः किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभूः ! ?, 'वो:' प्राणकः । पुनः किम्भूत हे रञ्जनारन्तिभूः ! ? 'अरम्भधूर !' न विद्यन्ते रम्भा–देवाङ्गनास्तत्सदृशत्वात् रम्भा–रूपसुन्दर्यः सुन्दर्यो येषां ते अरम्भाः–वेरङ्गिका, "धूरंङ् गतौ" अल्न्तः, गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वात्, अरम्भाना धूर–प्राप्तिर्यस्यासौ तथा, स सम्बोध्यते । किम्भूतोऽहं ? 'असमररिपुः' न विद्यन्ते समररिपवः–युद्धशत्रवो यस्य स तथा । किम्भूतस्य उः ? 'प्रखरमिहिरकान्तेः' प्रखरः–अत्यन्तकठोरः, "प्रखरः पुनः ॥ वेसरे हयसन्नाहे, कुक्कुरेऽतिभृशं खरे ।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७०–७१] इति वचनात्, स चासौ मिहिरः–सूर्यस्तस्य कान्तिरिव–रोचिरिव यः स प्रखरमिहिरकान्तिस्तस्य, कस्मिन् ? 'अन्धकारक्षे' अन्धकारस्य–अज्ञानतमसः क्षः–क्षयं अन्धकारक्षं तस्मिन्, अज्ञानतमोविनाशने सूर्यस्येत्यर्थः । पुनः किम्भूतस्य उः ? 'अनिष्टारक्षसः' अनिष्टानि–अनभीष्टानि आ–समन्तात् रक्षांसि–राक्षसा यस्मात् स तथा तस्य, राक्षस्यभयाभावस्येत्यर्थः ॥२१॥

विदारहर्त्तारमकारशाङ्करं,
विहारकर्त्तारमशारभास्वरम् ।
बभार चित्ते रमणीरसानरः
ककारकं तारकधारके उरः ! ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे 'तारकधारके उरः ! ' तारकाः–संसाराब्धि-पारगाः तान् धारयति इति तारकधारकस्तस्मिन् तारकधारके–

साधुजने उरः–मुख्यः, "उरो वक्षसि मुख्ये स्यात्" [अने. सं. कां. २ श्लो. ५८०] इत्युक्तेः, हे साधुजनोत्तम! 'रमणीरसानरः' रमण्यः–स्त्रियस्तासु रसः–रागस्तं न नयति–न नयति योऽसौ रमणीरसानरः प्रस्तावात् साधुजनः 'चित्ते' हृदि 'बभार' धृतवान्। कं? 'विदारहर्त्तारं' विदार्यन्ते नरा अस्मिन् स विदारः–युद्धं, तस्य हर्त्ता–हारको यः स विदारहर्त्ता तं विदारहर्त्तारं–श्रीअरनाथजिनम्। किम्भूतं विदारहर्त्तारं? 'अकारशाङ्करं' न विद्यते कारः–प्रस्तावात् संसारकारागारं येषां ते अकाराः–सामान्यजिनास्तेषु मध्ये विशिष्टत्वात् शाङ्कर इव–वृषभ इव अकारशाङ्करस्तम्। पुनः किम्भूतं विदारहर्त्तारं? 'विहारकर्त्तारं' विहारः–लीला निरुपमसंयमश्रीविलसनरूपा, "विहारस्तु जिनालये, लीलायां" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०३] इति हेमाचार्याः, तस्य कर्त्ता विहारकर्त्ता, तम्। पुनः किम्भूतं विदारहर्त्तारं? असारभास्वरं "सारण् दौर्बल्ये" अल्अन्तः, न सारोऽसारः–अदौर्बल्यं, तेन भास्वरः–मनोज्ञो यः स तथा तम्। पुनः किम्भूतं विदारहर्त्तारं? 'ककारकं' सुखविधायकम् ॥ २२ ॥

तनुरवसरवित्तेरर्कसेरस्तदार!,
प्रसुरति सुरविष्टेरंहतेरभ्रतेर।
प्रवरभृदररे! भारत्यमेरस्यवेर!
नवरजतरणेरेरङ्ककारण्डजेर ॥२३॥

मालिनीच्छन्दः।

व्याख्या—'अररे!' सम्बोधनार्थमव्ययम्। हे 'प्रवरभृत्!' "प्रवरं सन्ततौ [गोत्रे श्रेष्ठे च]" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७०]

इति हैमानेकार्थोक्तेः प्रवरं–मन्त्रीत पुत्रपौत्रादिकां विभर्ति–पुष्णाति योऽसौ प्रवरभृत्, तस्य सम्बोधनं हे प्रवरभृत्!–हे मित्र! 'तनुः' शरीरं 'प्रलुरनि' प्रशोभते। कस्य? 'अवसरवित्तेः' "अवसरो यत्मरे क्षणे" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६०६] इति वचनात्, अवसर–अतीतानागतवर्तमानकाललक्षणस्तस्य "वित्तिस्तु सम्भवे। ज्ञाने [लाभे विचारे च]" [अने. सं. का. ३ श्लो. २०६] इति वचनाद्, वित्तिः– ज्ञानं यस्य यस्माद्वा स अवसरवित्तिस्तस्य अवमरवित्तेः– श्रीअरनाथजिनस्य। किम्भूतस्य अवमरवित्तेः? 'अर्कसेः' "अर्क स्तुतौ" अर्च्यते–स्तूयते जनैरिति अर्कः, सह इना–इन्द्रेण वर्तते यः स सेः–सेन्द्रः, "इः कामः स्याणुरिन्द्रः" [सौ. ए. ४] इति वचनात्, अर्कश्चासौ सेश्च अर्कसेस्तस्य। किम्भूत हे प्रवरभृत्!? 'अस्तदार!' अस्ताः दाराः– परकलत्राणि येनासौ अस्तदारस्तस्यामन्त्रणम्। पुनः किम्भूतस्य अवसरवित्तेः? 'मुरविष्टेः' "मुर वेष्टने" इति धातोः अचि मुरन्ति–आत्मानं आच्छादयन्ति पापैरिति मुराणि–कर्माणि तेषां विष्टिः– प्रेषणं मुञ्चनं यस्मात् स तथा तस्य, "विष्टिः कर्मकरे मूल्ये, भद्रायां[1] प्रेषणेऽपि च।" [अने. सं. का. २ श्लो. ११४] इति वचनप्रामाण्यात्। पुनः किम्भूतस्य अवसरवित्तेः? 'अंहृतेः अभ्रतेः' "अंहतिस्त्यागरोगयोः" [अने. सं. का. ३ श्लो. ८४०] इत्युक्तत्वात्, अंहृते–रोगस्य, जातावेकवचनं, "अभ्र गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वात् "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे ५।३। १३८] इति तिवि अभ्रतिः– प्राप्तिस्तस्य अभ्रतेः, 'अ'न, अकारो निषेधार्थः, रोगानां नाशकस्येत्यर्थः। पुनः किम्भूतस्य अवसर-

---

१. "भद्राऽऽजूप्रेषणेषु च" इति मुद्रिते।

वित्तेः? 'भारत्यमेः' भारत्याः–वाग्देव्या अमिः–भजनं सेवनं यस्मिन् स तथा तस्य, "अम् गतौ भजने शब्दे" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः, "इकिश्तिव्०" [सि. हे. ५।३।१३८] इति सूत्रेण इप्रत्यये सिद्धिः। पुनः किम्भूत हे प्रवरभृत्!? 'अस्यवेर!' भजनीयशरीर!। किम्भूता तनुः? 'नवरजतरणेः' "रण गतौ" रणयति–सरसि जन्म प्राप्नोति यत्तत् रणं–पद्मं नवं–नूतनं यद् रजनं–स्वर्णं तस्य रणं नवरजतरण–नवीनस्वर्णकमलं, तदिव एति–शोभते या सा तथा, स्वर्णवर्णगौरीत्यर्थः, "इग् (?इण्) कान्तौ" क्विबन्तः, यदुक्तं श्रीहेमसूरिपादैः अभिधानकोषे—

"सुवर्णं पुनः।
स्वर्णं हेम हिरण्यहाटकवसून्यष्टापदं काञ्चनं,
कल्याणं कनकं महारजतरैगाङ्गेयरुक्माण्यपि ॥
कलधौतलोहोत्तमवह्निवीजान्यपि गारुडं गैरिकजातरूपे।
तपनीयचामीकरचन्द्रभर्मा–र्जुननिष्ककार्तस्वरकर्बुराणि ॥
जाम्बूनदं शातकुम्भं, रजतं भूरि भूत्तमम्।"

[का.४. श्लो. १०६–११]

पुनः किम्भूतस्य अवसरवित्तेः? 'एः' "एधग् (?इणक्) गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् क्विपि एति–सर्वजनमनोगतं जानाति य. स एः, तस्य एः। पुनः किम्भूतस्य अवसरवित्तेः? ['अङ्ककारण्डजेरं'] "अकि गत्यां" अङ्कनं अङ्कः–ज्ञानं स एव कारण्डः–अग्निस्तेन जयतीति क्विपि, अङ्ककारण्डजेस्तस्य, अकारः पादपूर्तौ, "कारण्डो मधुकोशेऽग्नौ" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७७५] इति वचनात् ॥२३॥

पूज्यैरघोरैरमदैर! जेतरं,
नेतारमायोरनयैरपांसुरम् ।
धर्त्तारमंहेरगसो रयं त्वरं,
पातारमस्तेरकलेरमुष्करम् ॥२४॥

व्याख्या—'अ!' इति सम्बोधने, भो जनाः! इति पदमध्याहार्यम्, प्रणमतेत्यपि शेषः। कं? 'जेतरं' "जि अभिभवे" जयतीति विचि जे—जेता प्रकृष्टो जेः जेतरस्तं जेतरं—श्रीअरनाथजिन "किंत्याद्येऽव्ययादसत्त्वे तयोरन्तस्याम्" [सि. हे. ७।३।८] इत्यनेन सूत्रेण तरप्। किम्भूतं जेतरं? 'पूज्यैः' पूजार्हैः—साधुभिरित्यर्थोपलक्षितमित्यर्थः। किम्भूतैः पूज्यैः? 'अघोरैः' अभयङ्करैः। पुनः किम्भूतैः पूज्यैः? 'अमदैः' निरहङ्कारैः। पुनः किम्भूतैः पूज्यैः? 'अनयैः' "अन प्राणने" अनन्तीत्यचि अनाः—प्राणिनस्तेषां या—लक्ष्मीर्येभ्यस्ते अनयास्तैः। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'आयोः' जीवनस्य 'नेतारं' दातारमित्यर्थः, दयापालकत्वात्। "इणक् गतौ" एति स्यायुः "कृवापाजिस्वदि[साध्यशौदृस्नासनिजानिरहीण्भ्य उण्]" [सि.हे उ.सू. १] इत्यनेन उण्प्रत्यये सिद्धम्। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'अपांसुरं' 'पांसु'[१]—रेणुस्तत्प्रायत्वात् पांसव—शठास्ते विद्यन्ते यस्य सः पांसुरः, "मध्वादिभ्यो रः" [सि. हे. ७।२।२६] इति रः, न पांसुरोऽपांसुरस्तम्। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'धर्त्तारं' धारकम्। कस्य? 'अंहेः' भागः "अहिक् भासि" "इकिश्तिव्०" [सि. हे. ५।३।१३८] इति इप्रत्ययः। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'रयं'

१.—"धूलि-धूल्यौ पांशु-पांसू, रजो ना सान्तपण् रजः" इति शब्दरत्नाकरः का. ४ श्लो. ३३

"रलयोः सावर्ण्यम्" इत्युक्तः 'लपं' "लपञ् स्पृहि" लपति–स्पृहतीति क्विपि लप्(?ट्) तं लपं–वाञ्छकम्, कस्य? 'अगमः' शाश्वतक्षेमस्य, "अज क्षेपणे वञ्च्यजियुजिमृजेर्ग च" [सि. हे. उ. सू. ६६६] इत्यनेन औणादिकसूत्रेण अम्प्रत्ययो गकारश्चान्तादेशो भवतीति निष्पन्नं अगः–क्षेममिति। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'त्वरं' "त्वर स्यदि" अचि त्वरयति धर्माय जनानिति त्वरस्तम्। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'पातारं' पालकम्, कस्य? 'अस्तेः' अस्तः–क्षिप्तः इः–कामो येन स अस्तेः, तस्य अस्तेः–मायोः। किम्भूतस्य अस्तेः? 'अकल्हेः' कल्हरहितस्य। पुनः किम्भूतं जेतरं? 'अमुष्करं' मुष्काः–अण्डका विद्यन्ते येषां ते मुष्कराः–पशवः, "मध्वादिभ्यो रः" [सि. हे. ७।२।२६] इति रः, न विद्यन्ते मुष्कराः यस्यासौ तथा तं, वृतव्रतत्वात् ॥२४॥

अवरहसरयाङ्गारव्यवारण्डरोर-
वृपरवणरसालीरम्यलेरङ्कुडूरम्।
गुरुरवलिरघृत्योरङ्गनो रश्मिदोर-
गिरिरशिधिरवृद्धि रक्षतात् रच्यगूरः ॥२५॥

व्याख्या—'रच्यगूरः' "गूर उद्यमे" अल्न्तः, रच्यः–रचनीयो गूरः–उद्यमो धर्मार्थं यस्यासौ रच्यगूरः–श्रीअरनाथजिनः 'रक्षतात्' पातु। 'रक्षतात्' अग्रे 'रच्यगूरः' इत्यत्र "न सन्धिः" [सि. हे. १।३।५२] इत्यनेन सूत्रेण सन्ध्यकरणमदुष्टम्। कं? 'अशिधिरवृद्धिं' न शिथिरा–न श्लथा वृद्धिर्यस्यासौ अशिथिरवृद्धिस्तमित्यन्वयः। किम्भूतो रच्यगूरः? 'अवरहसरयाङ्गारव्यवारण्डरोरवृपरवणरसाली:' अव–हीनं रः–

अप्रकाश्यं यस्मात् सोऽवरहसः, यद्वा अव–हीनो रहसा यः सः अवरहस, "तप्तान्ववाद्रहसः"[सि.हे. ७।३।८१] इति सूत्रेण समासान्त अप्रत्ययः, अवरहसाः–साधवस्त एव रथाङ्गाः–चक्रवाकास्तेषां आह्लादकत्वेन रविरिव–भानुरिव योसौ अवरहसरथाङ्गारविः, "वरण्डो वदनामये" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७८१] इति वचनाद्, वरण्ड एव वारण्ड, स्वार्थे अण्प्रत्ययः, न विद्यते वारण्डः–वदनामयो यस्यासौ अवारण्ड' रोरः–दरिद्रः निर्धनत्वात्, यद्वा न वारण्डो अवारण्डः, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अवारण्डः–कुत्सितवदनामयस्तेन रोरः–दरिद्रो यः स अवारण्डरोरः, वृषं–पुण्यं रौतीत्येवंशीलो वृषरवणः–धर्मवक्ता, "रसाला दूर्वाविदार्योजिह्वामार्जितयोरपि।" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२८०] इति वचनाद्, रसालया–जिह्वया अवति–दीप्यति जिह्वाया अत्यन्तरक्तत्वेन तनुत्वेन च यः स रसालीः, चतुर्णां कर्मधारये अवरहसरथाङ्गारव्यवारण्डरोरवृषरवणरसालीः। पुनः किम्भूतो रव्यगुरु.? 'अम्यले.' "अम गतौ भजने" अम'–ज्ञानं विद्यते येषां ते अमिनः–पण्डितास्तेषां अलः–भूषा येभ्यस्ते अम्यलाः, "अल वारणपर्याप्तिभूषासु" इति वचनात्, अलन्तः, अम्यलाः–सुरगुरुमानमातङ्गमर्दनमारङ्गनाथ (?नाथ) निभा गतनिभा (?) यादिनः पोटमत्तसह्यचावारतैरिति दीप्यते योसौ तथा। कथं भवति? 'अङ्कदूर' "अङ्को भूषा रूपकलक्ष्मसु॥ चित्राजौनाटकाद्यङ्गे, स्थाने क्रोडेऽन्तिकागसोः।" [अने. सं. का. २. श्लो. १७,१८] अङ्कात्–आगसो दूरं यत्तत् अङ्कदूरं, एवं यथा स्यात्तथा। पुनः किम्भूतो रव्यगुरुः? 'गुरु:' गरिष्ठः गुणैरिति गम्यते। पुनः

किम्भूतो रच्यगूरः ? 'अञ्जनः' "अगि गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद् अञ्जयति–प्रापयति अञ्जनः, कर्तर्यनट्। कयोः ? 'अवलिरधृत्योः' न वलिराः अवलिराः–अवक्रदृष्टयः, धृतिश्च–मुत्तं धृतिश्च–सन्तोषः "स्यादावसमद्वयेऽयः" (सि.है.३।१।११६) इति सूत्रेणैकशेषे धृती, अवलिराणां–अवक्रदृष्टीनां धृती अवलिरधृती तयोः, "धूर्नियोगविशेषे स्याद् वारणार्थयोः सूत्रे। सन्तोषाध्वरयोश्चापि" [अने. सं. कां. २ श्लो. १८६] इत्युक्तेः, अमुना विशेषणेन शीलव्रतधारिणां पुंसां मुक्तसन्तोषयोः प्रापक इत्यर्थः। पुनः किम्भूतो रच्यगूरः ? 'रश्मिदोः' "दु उपतापे" विच्प्रत्ययान्तः, रश्मिभिः शत्रून् दुनोति–उपतापयति योऽसौ तथा। पुनः किम्भूतो रच्यगूरः? 'अगिरिः' "गिरिः पूज्येऽक्षिरुजि [कन्दुके। शैले गिरियके[२] गीर्णावपि" अने. सं. कां. २. श्लो. ४१६] इति वचनाद् न विद्यते गिरिः–अक्षिरुग् यस्यासौ तथा, प्रधानाक्ष इत्यर्थः ॥ २५ ॥

कारोरनीतेरधृतेरदोपर!
दारोरवाचो रजनीरमोदरम् ।
सद्दोरनर्त्तेरमृतेरनम्बरः,
सद्मोररिष्टेरनृतेरकर्करः ॥२६॥

व्याख्या—हे 'अदोपर!' न दोपा अदोपाः तेषां राः–दानं यस्यासौ अदोपरः तत्सम्बोधनं हे अदोपर!–हे

२. "गिरियकः–गिरिगुडः काष्ठादिमयं क्रीडनकम्" इति टीकायां दृश्यते।

श्रीअरनाथजिन ! त्वं 'अवाच.' अत्यर्थं अब्रवीः । किं तत् ? 'अं' परब्रह्म, "अं मान्तो ब्रह्मसंवादे, परब्रह्मप्रवाचकः ।" [वि.ए. १६] इति वचनप्रामाण्यात् । कस्य ? 'कारोः' इन्द्रस्य, जातावेकवचनं, "डुकृंग् करणे कृंगट् हिंसायां वा" निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणात् करोति करति कृणोति वा "कृवापाजि[स्वदिसाध्यशोद्स्नामनिजानिरहीणभ्य उण्" सि. हे. उ. सू १] इति सूत्रेण उण्प्रत्यये "कारुः कारी नापितादिः इन्द्रश्च" । किम्भूतस्य कारोः ? 'अनीतेः' "णीग् प्रापणे" क्तिप्रत्यये नीतिः–प्रापणं, न विद्यते नीतिः–प्रापणं यस्यासौ तथा तस्य । कस्य ? 'अधृतेः' असुखस्य । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'दारोः' ददाति दयते यच्छति द्यति दाति दापयति वा इत्येवंशीलो दारुस्तस्य, "दाद्धेसिशदसदो रुः" [सि. हे. ५।२।३६] इति रुप्रत्यये सिद्धिः । किम्भूतस्त्व ? रजनीं–निशां कान्तात्वेन एति–प्राप्नोति योऽसौ रजनी.–चन्द्रस्तद्वत् शीतलत्वाद् रजनीरिव रजनीयः स तथा । पुनः किम्भूतस्त्व ? 'अभीरः' न विद्यन्ते भीरयः–स्त्रियो यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'सद्दोः' सन्तौ शोभनौ अर्चितौ वा दोषौ–[वाम]दक्षिणभुजौ यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'अनर्तेः' न विद्यते अर्तिः–पीडा यस्यासौ अनर्तिस्तस्य । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'अमृतेः' अमरणस्य । पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अनम्बरः' न विद्यते अम्बरं–वासो यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्य कारोः ? 'अभूतेः' न विद्यते भूतिः–पोषण यस्यासौ तथा तस्य । कस्य? 'अरिष्टेः' असुभस्य । कस्य? 'नस्रोः' नसी–विद्यमाना नुः–स्तुतिर्जनेषु

यस्य स सभुः–भक्तस्तस्य। पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अकर्कः' अकर्कश इत्यर्थः ॥ २६ ॥

सुमरमुदिरसेरोरथधेरत्तिखीरं,
ननर निगरणाभेरच्छपेरम्बगारम्।
सुमरठिकरटोतेरस्तजारण्डमार-
मधुरनविरलक्ष्ये रथ्यदेरस्त्रपेर ॥ २७ ॥

व्याख्या—अहं 'ननर' प्राप्तवान्, "नृश् नीतौ" परोक्षाया उत्तमपुरुषरूपम्। किं तत् ? 'अत्तिखीरं' "अत सातत्यगमने" क्विबन्तः, गत्यर्थाना ज्ञानार्थत्वाद् अद्–ज्ञानं तस्य खिखीरा–बहुलत्वं यस्मात् स तथा तं अत्तिखीरं–जिनप्रणीतधर्मम्, "खिखीरा वद्[1] बहुत्वे च" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११५०] इत्युक्तेः। कस्मात् ? 'सुमरमुदिरसेरोः' सरन्ति–मैथुननिमित्तं वेश्यादिषु गच्छन्ति ये ते सुमराः, "सृघस्यदो मरक्" [सि. हे. ५।२।७३] इत्यनेन मरक्, अत एव "मुदिरः कामुके मेघे" [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११६६] इति वचनप्रामाण्याद् मुदिराः–कामुकाः, "षिगृट् बन्धे" सिनोति–बध्नातीत्येवंशीलो यः स सुमरमुदिरसेरः, "दाट्धेसिशदसदो रुः" [सि. हे. ५।२।३६] इति रुः, तस्य [?तस्मात्] सुमरमुदिरसेरोः, श्रीअरनाथजिनादित्यर्थः। किम्भूतं अत्तिखीरं ? 'अम्बगारं' "अम्ब च गतौ"(?) अम्ब्यते–ज्ञायते योग्यायोग्यमार्गमेभ्यो लोकैरिति अम्बा–जिनप्रणीतैकादशाङ्गानि, तेषां गारः–विज्ञायो यस्मात् स तथा तम्,

१. "निद्धिरा खिद्धिरी" इत्यपि पा० ॥

"गृङ्ङ विज्ञाये" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः। किम्भूतस्य सुमरमुदिरसेरो. ? 'अर्थधे.' अर्थं–ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं घनं धियति योऽसौ अर्थधेस्तस्य, "धित् धृतौ" विच्प्रत्ययान्तः । पुनः किम्भूतस्य सुमरमुदिरसेरोः ? 'निगरणाश्रेः' "गृत् निगरणे" नितरां गरणं–अदनं येषां ते निगरणाः–प्राणिनः, ते आ–समन्तात् श्रयन्ति–सेवन्ति यमिति निगरणाश्रेस्तस्य, प्राणिभिः सेवितस्येत्यर्थः, "श्रिग् सेवने" विच्प्रत्ययान्तः । पुनः किम्भूतस्य सुमरमुदिरसेरो ? 'अच्छपे.' "पित् गतौ" ज्ञानार्थः विजन्तः, अच्छः–निर्मलः पेः–ज्ञानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथा तस्य । पुन. किम्भूतस्य सुमरमुदिरसेरोः ? 'सुमरठिकरटीतेः' मरठाः–प्राणाः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ–"मरठः दध्यतिद्रवीभूतं कृमिजातिः कण्ठ प्राणश्च ।" [सि. हे. उ. सू. १६७] इति, ते विद्यन्ते येषां ते मरठिनः, सुष्ठु मरठिनः सुमरठिनः, तेषां मध्ये करटिन इव–गजा इव ये ते सुमरठिकरटिनः, तेषां इतिः–शोभा यस्मात् स तथा तस्य, "इण् कान्तिगतिव्याप्तिक्षेपप्रजनखादने" इति वचनात् । पुन. किम्भूतस्य सुमरमुदिरसेरोः ? 'अस्तजारण्डमारमधुरनविरलक्षे.' जरण्डः–अतीतवयस्कः, भावप्रधाननिर्देशाद् जरण्डशब्देन वृद्धत्वम्, जरण्ड एव जारण्डः, स्वार्थे अण्प्रत्ययः, अस्तः–क्षिप्तः जारेण्डः–वृद्धत्वमेव येभ्यस्ते अस्तजारण्डाः–युवानः, मार.–कन्दर्पस्तद्वत् सुन्दरत्वात् मधुरा.–सर्वजनप्रियाः मारमधुराः, अस्तजारण्डाश्च ते मारमधुराश्च अस्तजारण्डमारमधुरा., ते च ते नाश्च–नरा अस्तजारण्डमारमधुरनाः–कामिपुमांसः, "नो नरे" [७६] इति विघ्नन्मुवचनात्, तेभ्यो विरलाः–असंहता ये ते अस्तजारण्ड-

मारमधुरनविरला:, तैः "क्षि क्षयैश्वर्ययोः" विचि क्षयति—ईष्टे यः सः अस्तजारण्डमारमधुरनविरलक्षेस्तस्य । पुनः किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरोः? 'रथ्यदेः' "रथ्यो रथांशे रथवोढरि" [अने. सं. कां. २ श्लो. ३८६] इति वचनाद् रथ्याः—रथवोढारः, प्रस्तावाद् धर्मरथवोढारः, तान् "दॆङ पालने" विचि दयते—पालयति योऽसौ रथ्यदेस्तस्य । पुनः किम्भूतस्य सृमरमुदिरसेरोः? 'अस्त्रपेः अ' "अस्त्रं चापे प्रहरणे" [अने. सं. का. २. श्लो. ४००] इति वचनात् "पित् गतौ" "ये गत्यर्थास्ते प्राप्त्यर्थाः" इति वचनाद् अस्त्राणां—चापानां पेः—प्राप्तिर्यस्य सोऽस्त्रपेस्तस्य अस्त्रपेः, एवंविधः 'अ' न, अकारो निषेधार्थः ॥२७॥

लोकैरशोभि रपनैरपनैरखिङ्खिरः,
पूतैरमातिरतरैरकदैरयस्मरः ।
सुश्रीरनेमिरनतैरसुधैरतोमर-
प्रष्ठैरदुःखरजकैरवनैरमत्सरः ॥२८॥

मृदङ्गकच्छन्दः

व्याख्या—'अखिङ्खिरः' "खिङ्खिरस्तु शिवाभेदे, खट्वाङ्गे वारिवालके" [अने. सं. कां. ३ श्लो. ११४९] इति वचनाद् न विद्यते खिङ्खिरः—वालकं सुगन्धद्रव्यं यस्य स अखिङ्खिरः—श्रीअरनाथतीर्थकृत् 'लोकैः' श्रावकजनैः साधुजनैर्वा 'अशोभि' शोभितः । किम्भूतैर्लोकैः? 'रपनैः' "रप भाषणे" कर्त्तर्यनटि रपन्ति—शुभवार्ता भाषन्ते ये ते रपनास्तैः। पुनः किम्भूतैर्लोकैः? 'अपनैः' "नो बुद्धौ ज्ञानबन्धयोः" [२७] इति सुधाकलशवचनाद्

अकरणिरररस्यास्तु कारण्डकौः! रो,

बधिरविखुरणाध्रोरश्च वारङ्गतोर।

रुचिरखदिरदीप्तेरघ्र्यखोरत्तिहार!,

स्वदरबदरपल्लूरस्य वैरङ्ग! पूर!॥२६॥

व्याख्या—'हे कारण्डक!' करण्डक एव कारण्डकः, स्वार्थे अण्प्रत्ययः, हे कारण्डक!। कस्य? 'रः' "ऋशब्दः पावके सूर्ये धर्मे" [वि. ए. ११] इति वचनप्रामाण्याद् ऋ-धर्मः, "ॠ दीर्घो देवमाता स्याद्भवस्तेन ते सुराः॥ स्त्रीलिङ्गोऽयं घने [यन्तो, वासवे वरुणाल्ये। वि. ए. १२-१३] इति वचनाद् ॠ-धर्मः स एव ऋ ॠः, तस्य रः-धर्मधनस्य, अमुना विशेषणेन धर्मधनालय इत्यर्थः। ऋ अग्रे ऋ इति सन्धौ "समानानां तेन दीर्घः" [सि. हे. १।२।१] इति दीर्घे ॠ, तदनु षष्ठ्येकवचने 'रः' इति निष्पत्तिः। 'हे रः कारण्डक!' हे धर्मधनालय! हे मित्र! 'अररस्य' भ्रमणस्य प्रस्तावात् संसारभ्रमणस्य, यदुक्तमुणादौ—"अरर. घराटः युधः भ्रमणं" [सि. हे. उ. सू. ३८७] इति, 'अकरणि.' अविधानमेव 'अस्तु' भवतु, जन्मस्येति शेषः। अकरणिरित्यत्र "नञोऽनिः शापे" [सि. हे. ५।३।११७] इति सूत्रेणानिप्रत्यये न करणं अकरणिरिति, न विधानमेवेत्यर्थः। कस्मात्? 'ओः' "उंङ् शब्दे" विचि अवति-ज्ञानशौण्डतपोभावनारूपं धर्मं परिणादि शब्दयति योऽसौ ओः, तस्माद् ओः-श्रीअरनाथजिनात्। किम्भूत हे रः कारण्डक!? 'औः!' हे प्रीणक!। किम्भूताद् ओः? 'बधिरविधुरणाध्रो.' बधिराः-श्रुतिविकलाः,

अप–गतो नः–बन्धोऽकरणार्हवस्तुव्रातजो येभ्यस्तेऽपनास्तैः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'पूतैः' पवित्रैः । किम्भूतः अखिलह्विरः ? 'अतरे अमातिः' "अत सातत्यगमने" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अतस्य–ज्ञानस्य "रित् गतौ" विजन्तः रेः–प्रापणं यस्मात् स अतरेः, तस्य अतरेः–धर्मस्य 'अमातिः' न विद्यते मातिः–मानं यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतोऽखिलह्विरः ? 'अकदैः' "दैव् शोधने" क्विबन्त, अकस्य–पापस्य दैः–शोधनं यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतोऽखिलह्विरः ? 'अघस्मरः' अनदनशीलः । पुनः किम्भूतोऽखिलह्विरः ? 'सुश्रीः' "श्रिग् सेवायां" सुष्ठु श्रयति पुण्यकर्माणमित्येवंशीलः सुश्रीः, "दिद्युद्द" [सि. हे. ५।२।८३] इति सूत्रेण शीलादौ सत्यर्थे क्विपो निपातः । पुनः किम्भूतोऽखिलह्विरः ? 'अनेमिः' नमतीत्येवंशीलो नेमिः, न नेमिः अनेमिः, तीर्थङ्करत्वात्, "सम्रिचकिदधिजज्ञिनेमिः" [सि. हे. ५।२।३९] इत्यनेन सूत्रेण शीलादौ सदर्थे द्व्युक्तिमान् इ्यन्तो निपात्यते इति नेमिशब्दनिष्पत्तिः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'अनतैः' अनम्रीभूतैः परतीर्थ्यैः । पुनः किम्भूतोऽखिलह्विरः ? 'असुधेः' असून्–प्राणान् धियति विचि असुधेः, "धित् धृतौ" । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'अतोमरप्रष्ठैः' न विद्यन्ते तोमराः–शस्त्राणि येषां ते अतोमरास्तेषां मध्ये प्रष्ठाः–विशिष्टा अतोमरप्रष्ठास्तैः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'अदुःखरजकैः' दुःखं नास्ति येभ्यस्ते अदुःखास्तान् "रञ्जीं रागे" रञ्जतीति अकि अदुःखरजकास्तैः, सुखकरजनरञ्जकैरित्यर्थः । पुनः किम्भूतैर्लोकैः ? 'अवनैः' अवन्ति–लक्ष्मीं वर्द्धयन्ति ये ते अवनास्तैः । पुनः किम्भूतोऽखिलह्विरः ? 'अमत्सरः' मत्सररहितः ॥२८॥

अकरणिरररस्योरस्तु कारण्डकोः! रो,
वधिरविखुरणाग्रोरश्च वारङ्कतोर।
रुचिरखदिरदीप्तेरर्घ्यखोरर्त्तिहार!,
स्वदरवृदरपल्लूरस्य वैरङ्ग! पूरे!॥२६॥

व्याख्या—'हे कारण्डक!' करण्डक एव कारण्डकः, स्वार्थे अण्प्रत्ययः, हे कारण्डक!। कस्य? 'रः' "ऋशब्दः पावके सूर्ये घर्मे" [वि. ए. ११] इति वचनप्रामाण्याद् ऋ–घर्मः, "ॠ दीर्घो देवमाता स्याद्भवस्तेन वै सुराः॥ स्त्रीलिङ्गोऽयं घने [वह्नौ, वासवे घनणाल्ये। वि. ए. १२–१३] इति वचनाद् ॠ–घर्मः स एव ऋ ऋः, तस्य रः–घर्मवनस्य, अमुना विशेषणेन धर्मवनाल्य इत्यर्थः। ऋ अग्रे ऋ इति सन्धौ "समानानां तेन दीर्घः" [सि. हे. १।२।१] इति दीर्घे ॠ, तदनु षष्ठ्येकवचने 'रः' इति निष्पत्तिः। 'हे रः कारण्डक!' हे घर्मवनाल्य! हे मित्र! 'अररय' भ्रमणस्य भ्रन्तावान् संसारभ्रमणस्य, यदुक्तमुणादौ–"अररः कपाटः बुधः भ्रमणं" [सि. हे. उ. सू. ३८७] इति, 'अकरणिः' अविधानमेव 'अस्तु' भवतु, जन्मस्येति शेषः। अकरणिरित्यत्र "नञोऽनिः शापे" [सि. हे. ५।३।११७] इति सूत्रेणानिप्रत्यये न करणं अकरणिरिति, न विधानमेवेत्यर्थः। कस्मात्? 'ओः' "ऊङ् शब्दे" विचि अवनि–दानशीलतपोभावनाख्यं धर्मं परिषदि सन्दधाति योऽसौ औः, तस्माद् ओः–श्रीअरनाथजिनात्। किम्भूत हे रः कारण्डक!? 'औः!' हे प्रीणक!। किम्भूताद् ओः? 'वधिरविखुरणाग्रो' वधिरः–मुनिविकल्पः,

विशेषेण खुरणसः–लघुनासिकावन्तः पुमांसः, बधिराश्च विखुरणसश्च बधिरविखुरणसः, "ध्रु गतिस्थैर्ययोः" विचि ध्रौः, तेषां ध्रौः–स्थैर्यं यस्मात् स बधिरविखुरणाध्रौः, तस्माद् बधिरविखुरणाध्रो., एवंविधो 'अः' न। पुनः किम्भूताद् ओः ? चकारः पादपूर्त्तौ, 'वारङ्गतो. अ' "वारङ्गः काण्डखड्गयोः" [सि. हे. उ. सू. ६६] इति उणादिवृत्त्याम्, वारङ्गैः–खड्गैः काण्डैर्वा तौति–हिनस्ति योऽसौ वारङ्गतोः तस्मात्, एवंविधः 'अ' न, "तुलवृत्तिहिंसापूर्त्तिषु" इति वचनाद् विजन्त.। पुनः किम्भूताद् ओः ? 'रुचिरखदिरदीप्तेः' "खदिरो दन्तधावनचन्द्रयोः" [अने. सं. कां. ३. श्लो. ११४६] इति हैमानेकार्थोक्तेः रुचिरः–मनोहरो यः खदिरः–चन्द्रः तद्वद् दीप्तिः–कायकान्तिर्यस्यासौ तस्मात्। पुनः किम्भूताद् ओः ? 'अ-र्घ्य-स्त्रौः' "स्तुङ् ध्वनौ" विजन्तः, अर्घ्याः–पूजार्हास्ते स्तुवन्ति–ध्वनयन्ति गीतादिभिरिति यं स अर्घ्यस्त्रौस्तस्मात्। [पुन.] किम्भूत हे रः कारण्डक ! ? 'अत्तिहार !' पीडानाशक !। पुनः किम्भूत हे र. कारण्डक ! ? 'वैः !' "ओवै शोषे" क्विपि वायति–शोषयति योऽसौ वैः, तत्सम्बोधनं हे वैः! – हे शोषक !, कस्य ? 'स्वदरवृदरपल्लूरस्य' सु–अतिशयेन अदरवृदरावेव–मह ग्रामभयावेव पल्लूरं–मितं पयो–निर्मलपयः स्वदरवृदरपल्लूरं तस्य तथा। अदरवृदरशब्दो औणादिको मह ग्राममयवाचको, "पल्लूरं तु सित पय " [शेष. सं. श्लो. १६३] इति शेष., जग्वाचक.। पुनः किम्भूत हे रः कारण्डक ! ? अङ्गेति कोमलामन्त्रणे, 'हे पूर !' "पूर पूर्त्तौ" अजन्तः, पूरयति अभीष्टमिति पूरः, तत्सम्बोधनं हे पूर !, पूरकेत्यर्थः ॥ २६ ॥

यक्ष्यैरचोकू रपठं रमठधरः,
सत्कारभूनीरनयेरगत्वरः।
सम्यैरधीशैरघनैरपक्मरः,
कष्टैरनन्तैरदशैरकच्छुरः ॥ ३० ॥

व्याख्या—'सत्कारभूनीः!' कारो–निश्चयः तत्र तेन वा भवतीति कारभूः–अग्रेसरः, सन्तश्च–साधवः कारभ्वश्च–अग्रेसराः सत्कारभ्वः, तेभ्योऽपि विशिष्टत्वेन अग्रेसरत्वं नयति–प्राप्नोति योऽसौ तथा, तत्सम्बोधने हे सत्कारभूनीः! –श्रीअरनाथजिन! त्वं "यक्ष पूजायां" यक्षे–पूजायां अर्हाः यक्ष्यास्तैर्यक्ष्यैः–साधुभिः 'अचोकूः' अरयथं ज्ञानक्रीडामकार्षीः। किम्भूतैर्यक्ष्यैः? 'रपठैः' विद्वद्भिः, यदुक्तमुणादौ–"रपठः विद्वान् मण्डूकश्च" [सि. हे. उ. सू. १६७]। किम्भूतस्त्वं? 'रमठधरः' रमठाः–क्रीडनशीला विद्यन्ते येषां ते रमठिनः–चक्रवर्तिनस्तेषां अरः–सेवार्थं प्रापणं यस्य स तथा, "ऋश् गत्यां" अलन्तः। यदुक्तमुणादिवृत्त्यां–"रमठः देशः कृमिजातिः क्रीडनशीलः म्लेच्छः देवश्च चिलातानाम्" [सि. हे. उ. सू. १६७]। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अनयेः' अनयस्य–कुनयस्य ईः–क्षेपो यस्माद् यस्य वा स तथा, "इल् क्षेपे" क्विबन्तः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अगत्वरः' अगमनशीलः, परदारादिष्विति गम्यते। पुनः किम्भूतैर्यक्ष्यैः? 'सम्यैः' सभार्हैः। पुनः किम्भूतैर्यक्ष्यैः? 'अधीशैः' स्वामिभिः, शिष्यादीनामिति गम्यते। पुनः किम्भूतैर्यक्ष्यैः? 'अघनैः' निर्घनैः, यतित्वात्। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अपक्मरः' "क्मर कौटिल्ये" अलन्तः, अपगतः क्मरः–कौटिल्यं

यस्मात् स तथा। पुनः किम्भूतैर्यस्यैः ? 'अनन्तैः' न विद्यते अन्तः–विनाशो येषां ते अनन्तास्तैः अनन्तैः–नाशरहितैः। कैः ? 'कष्टैः' अशुभैः। पुनः किम्भूतैर्यस्यैः ? [1]'अदशैः' अवस्थाहीनैः। पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अकच्छुरः'[2] खर्जूरहितः[3] ॥३०॥

गुरुरनपरया कं रङ्खदीरटचपारः,
खलु रचय रतीसारक्षकारण्यवीरः।
विमरणपरमात्माऽऽरब्धनीरन्ध्रकोर-
घनरससुरभिर्नेरञ्जद्‌गुरत्ननूरः ॥३१॥

व्याख्या—हे विभो ! त्वं 'खलु' निश्चितं 'कं' सुखं 'रचय' विधेहि। कथं ? 'अनपरया' "प्रकारे था" [सि. है. ७।२।१०२] इति थाप्रत्यये अपरथा–अतया, न अपरथा अनपरथा–न अन्यथा प्रकारेण, प्रस्तावाद् एकयैव सेवया सुखं कुरु इत्यर्थः। किम्भूतस्त्वं ? 'गुरुः' गरिष्ठः। पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'रङ्खदीरटचपारः' "रघिङ् गमने" रङ्खा–ज्ञानं अलन्तः, तं ददति ये ते रङ्खदिनः–ज्ञानदाः, "दा दाने" क्विन्तः, "रट् भाषणे" अत एव रटन्ति–भाषन्ते इत्येवंशीला रङ्खदीरटिनः, तेषां न विद्यते पारः–प्रान्तो यस्य स तथा। पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'रतीसारक्षकारण्यवीरः' "रतिः स्मरस्त्रियां रागे" [अने. सं. का. २।२०२] इत्युक्तः रतिः–रागः, तस्याः ईः–प्रापणं यस्याः सा रतीः, रतीश्चासौ सा च–लक्ष्मी.

1. "अवस्था तु दशा स्थिति." अभि. चिन्ता. का. ६ श्लो. १३।
2. "कच्छुरः पुंश्चले पामासहिते" अने. सं. का. ३ श्लो. १११३।
3. "कच्छूः कच्छूयन खर्जूः" अभि. चिन्ता. का. ३ श्लो. १२८।

रतीसा, आरक्षः—रक्षको यः स रतीसारक्षः, "आरक्षो रक्षके" [अने.सं.कां. ३ श्लो. १३३०] इति हैमानेकार्थोक्तिः, "कारणं घातने हेतौ" [अने. सं. कां २ श्लो ७६५] इति वचनात् कारणं–घातनं विद्यते येषां ते कारणिनः–घातकाः, तेषां ईः–नाशो यस्मात् स कारणीः, "इन् क्षेपे" क्विबन्तः, "वीरा गम्भारिकारम्भातामलक्ययेलवालुषु।" [अने. सं. कां ३ श्लो. ४६३] इति वचनाद् न विद्यन्ते वीराः–रम्भाप्रायत्वात् स्त्रियो यस्यासौ अवीरः, त्रयाणां कर्मधारये रतीसारक्षकारण्यवीरः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'विमरणपरमात्मा', विगतं मरणं–मृतिर्यस्मात् स विमरणः, परमश्चासौ आत्मा च परमात्मा, विमरणश्चासौ परमात्मा च विमरणपरमात्मा। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'आरब्धनीरन्ध्रकोरघनरससुरभिः' "कुरत् शब्दे" पक्वतः, आरब्धः–प्रारब्धो नीरन्ध्रः–दृढः कोरः–शब्दो व्याख्यानावसरे येन स आरब्धनीरन्ध्रकोरः, घनरसः–कर्पूरस्तद्वत् सुरभिः–सुगन्धो यः स घनरससुरभिः, आरब्धनीरन्ध्रकोरश्चासौ घनरससुरभिश्च तथा। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'नेः' "णी प्रापणे" नयति शर्म योऽसौ नेः–नेता विजन्तः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अब्जदृग्रत्ननूः' अब्जदृंशि–कमलनयनानि यानि रत्नानि–स्वजातिश्रेष्ठाः, "रत्नं स्वजातिश्रेष्ठे स्यात्" [अने. सं. कां. २ श्लो. २६१] इति हैमानेकार्थोक्तिः, अब्जदृग्रत्नैः स्तूयते योऽसौ तथा। 'अः' पादपूर्तौ ॥३१॥

संसारदुस्तरसुनीरधितारकानुर-
दूढचैरपातिरसितैरहसैरस

सिद्धैरगायि रमतीरसितेरहोऽध्वरः,
ख्यातैरदातिर शतेरगतीरकूबरः ॥३२॥

व्याख्या—अध्वरशब्दस्तीर्थंकरनामवाची जिनसहस्रनाममध्ये पठितोऽस्ति, 'अध्वर.' श्रीअरनाथजिनः 'सिद्धै.' प्रसिद्धैः श्रावकैः 'अगायि' प्राप्त', "सिद्धो व्याडयादिके देवयोनौ निष्पन्नमुक्तयोः। नित्ये प्रसिद्धे" [अने सं. का. २ श्लो. २६७] इति हैमानेकार्थोक्तेः। किम्भूतोऽध्वरः ? 'संसारदुस्तरमुनीरधितारकानु:' संसारः—भवः स एव दुस्तरसुनीरधिः—शोभनजलराशिस्तस्मात् तारयन्ति ये ते संसारदुस्तरमुनीरधितारकाः, तेषु आ—समन्ताद् नुः—स्तवनं यस्य स तथा। किम्भूतैः सिद्धैः ? 'अदूढ्यैः' दुष्टं ध्यायन्तीति "स्यादिभ्यः कः" [सि. हे. ५।३।८२] इति के दूढ्या —दुर्जनाः, न दूढ्या अदूढ्यास्तैः तथा, सज्जनैरित्यर्थः, अत्र हि पृषोदरादित्वाद् दुसो दूभावो धस्य ढत्वे दूढ्य इति। पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अपातिः' "पां पाने" पातिः—पानम्, न विद्यते पातिः—मदिरापानं यस्य स तथा। पुनः किम्भूतैः सिद्धैः ? 'अमितैः' दीप्तैः। पुन. किम्भूतैः सिद्धैः ? 'अहसैः' "हसे हसने" अलन्तः, न विद्यते हसः—हसनं येषु ते अहसास्तैः। पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'असपरः' न सन्ति सपराः—धूर्ताः यस्य स तथा, "सर्परस्तस्करे भिक्षापात्रे धूर्त-कपालयोः" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११४७] इत्युक्तेः। पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'रमतीः' "रमु क्रीडे" "इश्तितिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति तिवि रमतिः—रमणं, प्रस्तावाद् मुक्तिश्रिया सम रमतिं—क्रीडनं एति—प्राप्नोति योऽसौ तथा। पुनः किम्भूतो-

ऽध्वरः ? 'असिते:' न सिता असिता—अबद्धा ई–लक्ष्मीर्यस्यासौ तथा, अत्यन्तलक्ष्मीदानदायक इत्यर्थः, धर्मकार्यसावधानत्वेन। पुनः किम्भूतैः सिद्धैः ? 'ख्यातैः' प्रसिद्धैः। 'अहो !' इत्याश्चर्ये। पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अदातिः' "दांवृक् ल्नो" क्तिप्रत्ययान्तः, न विद्यते दातिः–लवनं यस्य स तथा। अकारः पादपूरणार्थः। पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'शतेरगतौ:' शतेरः–वायुस्तद्वद् गतिर्येषां ते शतेरगतयः–साधवः तेषां ई–लक्ष्मीर्यस्मात् स तथा, शतेर-शब्द औणादिको वायुवाचकः। पुनः किम्भूतोऽध्वरः ? 'अकूबरः' अकुब्जः, "कूबरः पुनः। कुब्जे [युगन्धरे रम्ये।" अने. सं. का. ३ श्लो. ११४३] इति वचनात् ॥३२॥

अविरतमर ! तुष्टोरस्कतौरर्हदीरः,
प्रचुरय विरजं कारम्भभूरर्जसोरः।
यतिरकुचररासेरस्यवैरप्रजौर-
स्तिमिरखिदिरतम्यारस्विडा रक्षितारः ॥३३॥

व्याख्या—हे 'अर !' हे अरनाथजिन ! त्वं 'अविरतं' निरन्तरं 'विरजं' विगतं रजः–पापमलो यस्मात् स विरजः–धर्मस्तं विरजं 'प्रचुरय' बहुलीकुरु। किम्भूतस्त्वं ? 'तुष्टोरस्कतौः' तुष्टं उरो यस्मात् स तुष्टोरस्कः, "दध्युरःसर्पिर्मधूपान-च्छालेः" [सि. हे. ७।३।१७२] इति सूत्रेण बहुव्रीहेः कच् समा-सान्तः प्रत्ययो जातः, तुष्टोरस्कः–धनः, तं तौति–पिपर्ति विचि तुष्टोरस्कतौः, धनपूरक इत्यर्थः। पुनः किम्भूतस्त्वं ? 'अर्हदीरः'

विदाश्च–विदन्ति–जानन्तीत्यपि विद्वांसस्तैः अजर्जरदुर्वारकङ्करविदैः। पुनः किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौः? 'असंस्तरः' "संस्तरः प्रस्तरे मखे" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२१५] इत्युक्तेः न विद्यते संस्तरः–यज्ञः यस्य स तथा ॥३४॥

प्रभुरचतुरवित्तारक्षवैरङ्किकारः,
शुभरथविरहक्षोऽरम्रशारण्यसौरः।
अनरणिरिररिष्टेरङ्करेऽरङ्कजूरः,
पटुरकृतिररकाऽऽरक्षपूरम्यखोर!॥३५॥

व्याख्या—'अङ्करे'! इति सम्बोधनार्थमव्ययम्। 'हे अम्यखोर!' "अम भजे" अमतीत्येवंशीलोऽमी–भजकः, न खोरः अखोरः–अखञ्जः, अमी चासौ अखोरश्च अम्यखोरस्तदामन्त्रणं हे अम्यखोर!–हे मित्र!, 'पटुः' रोगविहीनः श्रीअरनाथजिनः, "पटुस्तीक्ष्ण-पटोलयोः। स्फुटे रोगविहीने च" [अने. सं. का. २ श्लो. १०८] इत्युक्तेः, 'अरिष्टेः' "अरिष्टं सूत्यगारेऽन्तचिह्ने तक्रे शुभे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७५०] इति वचनप्रामाण्याद् अरिष्टस्य–शुभस्य ईः–क्षेपो यस्मात् स अरिष्टेस्तस्य अरिष्टेः–पापस्य 'अनरणिः' न अरणं अनरणिः, "नञोऽनिः शापे" [सि. हे. ५।३।११७] इति अनिप्रत्ययः, अनरणिः–अत्राणमेव विदधातु इति शेषः। किम्भूतः पटुः? 'प्रभुः' स्वामी। पुनः किम्भूतः पटुः? 'अचतुरवित्तारक्षवैरङ्किकारः' अविद्यमानानि अदृश्यानि वा चत्वारि घातिकर्माणि येषां ते अचतुरा नञ्सुव्युपत्रेश्चतुरः" [सि. हे. ७।३।१३१।] इत्यनेन नञ्-प्रत्ययात् परस्य चतुरशब्दस्य बहुव्रीहेरपसमासान्तप्रत्यये अच-

वृन्दारकागरजिनोरसमौः—श्रीअरनाथजिनः गुरुत्वेन देवत्वेन वा। किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौः? 'अकर्बुरः'-"कर्बुरो राक्षसे पापे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११२८] इत्युक्तेः नास्ति कर्बुरं-पापं यस्यासौ तथा। [पुनः] किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौः? 'रदमौः' रतं-सुरतं करोति, "तत्करोति तदाचष्टे" इति [पाणिनिगणसूत्रेण] रतयते रतयतीति णिजि तल्लुकि क्विपि तल्लुकि च रत्, तस्मादमति-गच्छति योऽसौ रदमः, औः-पालकः, रदमश्चासौ औश्चेति कर्मधारये रदमौः। किम्भूतैः प्राज्ञैः? 'अशरैः' बाण-रहितैः, निष्क्रोधत्वात्। पुनः किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौः? 'अनिर्वरः' "निर्वरं तु गतत्रपे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११६६] इति वचनाद् न निर्वरः अनिर्वरः, सलज्ज इत्यर्थः। पुनः किम्भूतैः प्राज्ञैः? 'भव्यैः' मनोहरैः। पुनः किम्भूतैः प्राज्ञैः? 'अमालिरभसैः' "अम गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अमस्य-ज्ञानस्य आलिः-श्रेणिः, अमालिः तया रभसः-औत्सुक्यं यादार्थं येषां ते तथा तैः। पुनः किम्भूतैः प्राज्ञैः? 'अनिभैः'[१] निर्व्याजैः। पुनः किम्भूतैः प्राज्ञैः? 'अजितैः' अपराभूतैः, कैः? 'अजर्जरदुर्वारकद्बुरविदैः' "जर्जरस्तु, वासवध्वजजीर्णयोः" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११५७] इत्युक्तेः न जर्जरा अजर्जराः-अजीर्णाः, नवीना इत्यर्थः, दुर्वाराः-वारयितुमशक्याः कद्बुराः-कुत्सिताः, मिथ्याकथनत्वात्, "कद्बुरं कुत्सिते" [अने. न. का. ३ श्लो. ११३०] इति वचनप्रामाण्यात्, त्रयाणां कर्मधारये अजर्जरदुर्वारकद्बुराश्च ते

१. "उरो दशसि मुख्यं स्यात्" इति अने. सं. का. २ श्लो. ५८०।
२. "निभः स्याद् प्रवृत्ते व्याजे" अने. सं. का. २ श्लो. ३२२।

विदाश्च-विदन्ति-जानन्तीत्यचि विद्वांसस्तैः अजर्जरदुर्वारिकङ्क-रविदैः। पुन. किम्भूतो वृन्दारकागरजिनोरसमौः ? 'असस्तरः' "संस्तरः प्रस्तरे मखे" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२१५] इत्युक्तेः न विद्यते संस्तरः-यज्ञः यस्य स तथा ॥३४॥

प्रभुरचतुरवित्तारक्षवैरङ्गिकारः,
शुभरयविरहक्षोऽरम्रज्ञारण्यखोरः ।
अनरणिरिरिष्टेरङ्गरेऽरङ्कूरः,
प्रटुरकृतिरराकाऽऽरक्षपूरम्यखोर ! ॥३५॥

व्याख्या—'अङ्कूरे' !' इति सम्बोधनार्थमव्ययम् । 'हे अम्यखोर !' "अम भजे" अमतीत्यंवंशीलोऽमी-भजकः, न खोरः अखोरः-अखञ्जः, अमी चासौ अखोरश्च अम्यखोर-स्तदामन्त्रणं हे अम्यखोर !—हे मित्र !, 'पटुः' रोगविहीनः श्री-अरनाथजिनः, "पटुस्तीक्ष्ण-पटोलयोः । स्फुटे रोगविहीने च" [अने. सं. का. २ श्लो. १०८] इत्युक्तेः, 'अरिष्टेः' "अरिष्टं सूत्यगारेऽन्तचिह्ने तक्रे शुभे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७५०] इति वचनप्रामाण्याद् अरिष्टस्य-शुभस्य ईः-क्षेपो यस्मात् स अरिष्टे-स्तस्य अरिष्टेः-पापस्य 'अनरणिः' न अरण अनरणि.,"नञोऽनिः शापे" [सि. हे. ५।३।११७] इति अनिप्रत्ययः, अनरणिः-अत्राण-मेव विदधातु इति शेपः । किम्भूतः पटुः ? 'प्रभुः' स्वामी । पुनः किम्भूतः पटुः ? 'अचतुरवित्तारक्षवैरङ्गिकारः' अविद्य-मानानि अदृश्यानि वा चत्वारि घातिकर्माणि येषां ते अचतुरा नञ्सुव्युपत्रेश्चतुरः" [सि. हे. ७।३।१३१ ।] इत्यनेन नञ्-प्रत्ययात् परस्य चतुरशब्दस्य बहुव्रीहेरपसमासान्तप्रत्यये अच-

तुरा–केवलिनः द्वाविंशतिशतसङ्ख्याकाः, "वित्तं विचारिते ख्याते, धने" [अने. स. का. २ श्लो. २०६] इति वचनात् तेषां वित्तं–धनं संयमलक्षणं तस्य आरक्षा–समन्तात् रक्षणं यस्य सः अचतुरवित्तारक्षः, वैरङ्गिकाः–विरागार्हास्तैः आरज्यतीति "क्वचिड्डः"[1] [सि. हे. ५।१।१७१], इति ड वेरङ्गिकारः, अचतुरवित्तारक्षश्चासौ वैरङ्गिकारश्च तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'शुभरथविरहक्षः' "रथस्तु स्यन्दने पादे" [अने. सं. का. २ श्लो. २३३] इति वचनात् शुभौ–भद्रौ रथौ क्रमौ यस्यासौ शुभरथः, विरहं क्षयतीति विरहक्षः, शुभरथश्चासौ विरहक्षश्च तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'अरम्रशारण्यसौरः' "रमिं क्रीडायां" "भीवृधिरुधिवज्यगिरमि" [सि. हे. उ. सू. ३८७] इत्यौणादिके रप्रत्यये रम्रः–कामुकः, न रम्रः अरम्रः – अकामुकः, शरण्यमेव शारण्यम्, स्वार्थे अण्, शरणयोग्यम्, सूरीणां समूहः सौरम्, शारण्यं च तत् सौरं च यस्यासौ शारण्यसौरः, अरम्रश्चासौ शारण्यसौरश्च तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः? 'इः' पवित्रं, गुणवत्त्वात्, "इः कामः स्थाणुरिन्द्रोऽर्को, वरुणः पादपो द्विपः । शुचि." [सौ. ए. ४] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'अरङ्घजूरः' "रघिक् भासि" अलन्तः, रघो–दीप्तिः "जुर्य इज्यानौ वधे" ("जूरैच् हानौ वधे"), तेन जूर्यते–हीनो भवति योऽसौ रङ्घजूरः, न रङ्घजूरः अरङ्घजूरः, प्रत्यहं प्रत्यहं दीप्त इत्यर्थः । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'अकृतिः' "कृञ् वधे" क्विप्रत्ययान्तः, नास्ति कृतिर्यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः ?

---

१. "क्वचित्" इति सूत्रं, ड इत्यस्य त्वनुवृत्तिः ।

तुराः—केवलिनः द्वाविंशतिशतसङ्ख्याकाः, "वित्तं विचारिते ख्याते, धने" [अने. सं. का. २ श्लो. २०६] इति वचनात् तेषां वित्त—धनं संयमलक्षण तस्य आरक्षा—समन्ताद् रक्षणं यस्य मः अचतुरवित्तारक्षः, वैरङ्गिकाः—विरागार्हास्तैः आरज्यतीति "क्वचिड्डु."[१] [सि. हे. ५।१।१७१]; इति ङ वैरङ्गिकारः, अचतुरवित्तारक्षश्चासौ वैरङ्गिकारश्च तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'शुभरथविरहक्ष.' "रथस्तु स्यन्दने पादे" [अने. सं. का. २ श्लो. २३३] इति वचनात् शुभौ—भद्रौ रथौ क्रमौ यस्यासौ शुभरथः, विरहं क्षयतीति विरहक्षः, शुभरथश्चासौ विरहक्षश्च तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'अरम्रशारण्यसौर.' "रमि क्रीडायां" "भीवृधिरुधिवज्यगिरमि" [सि. हे. उ. सू. ३८७] इत्यौणादिके रप्रत्यये रम्रः—कामुकः, न रम्रः अरम्रः—अकामुकः, शरण्यमेव शारण्यम्, स्वार्थे अण्, शरणयोग्यम्, सूरीणां समूहः सौरम्, शारण्य च तत् सौरं च यस्यासौ शारण्यसौरः, अरम्रश्चासौ शारण्यसौरश्च तथा । पुनः किम्भूतः पट्टः? 'इः' पवित्र, गुणवत्त्वात्, "इ. कामः स्थाणुरिन्द्रोऽर्को, वरुणः पादपो द्विपः । शुचि." [सौ ए. ४] इत्युक्तेः । पुनः किम्भूतः पट्टः? 'अरद्धजूर.' "रधिक् भासि" अलन्तः, रघो—दीप्तिः "जुर्य इज्यानौ वधे" ("जूरैच्-हानौ वधे"), तेन जूर्यते—हीनो भवति योऽसौ रद्धजूरः, न रद्धजूरः अरद्धजूरः, प्रत्यह प्रत्यहं दीप्त इत्यर्थः । पुनः किम्भूतः पट्टः ? 'अकृतिः' "कृञ् वधे" क्तिप्रत्ययान्तः, नास्ति कृतिर्यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूत पट्टः ?

१. "क्वचित्" इति सूत्रं, ड इत्यस्य स्थनुवृत्तिः ।

'अराकारक्षपूः' राकाः—दातारः, न राका अराकाः—कृपणास्तेषां आ—लक्ष्मीस्तां रक्षति—पालयति या सा अराकारक्षा, एवंविधा पूः—शरीरं यस्य सः अराकारक्षपूः ॥ ३५ ॥

पपर प्रकरणावेरर्द्धपूरण्यभेर-
जितरवपरपुष्टाः ! रद्धधीरङ्ग्यचयेर ! ।
सुनुरशिखरवप्येरर्घ्यधोरप्रभोर-
कनिरसवरधर्त्ताः कपारय्यदोर ॥३६॥

व्याख्या—अकारः सम्बोधनार्थमव्ययम् । हे 'अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टाः !' "ऋधूच् वृद्धौ" धन्तः, अर्द्धेन—समृद्धया "पूरैचि आप्यायने" पूरणशीलाः—वर्द्धनशीलाः ये ते अर्द्धपूरणाः—व्यवहारिणः, ते विद्यन्ते येषां ते अर्द्धपूरणिनः, भेराः—कातराः, न भेराः अभेराः—शूराः, जितः—अभिभूतो रवेन—शब्देन परपुष्टः—कोकिलो यैस्ते जितरवपरपुष्टाः, अर्द्धपूरणिनश्च ते अभेराश्च ते जितरवपरपुष्टाश्च अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टास्तेषां आमन्त्रणं हे अर्द्धपूरण्यभेरजितरवपरपुष्टाः ! —हे राजानः ! यूयं 'पपर' प्रीता अभूत, "पृंङ् प्रीतौ" इति धातोः परोक्षायां मध्यमपुरुषबहुवचनेषु रूपम् । कस्मात् ? 'प्रकरणावेः' प्रकरणस्य—प्रस्तावस्य अविः—ज्ञानं यस्मात् स तथा, तस्मात् प्रकरणावेः—श्रीअरनाथतीर्थकृतः, "अव गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् "इकिदितव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति इप्रत्ययः । किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'रद्धधीरङ्ग्यचयेः' "रधौच् हिंसासंराद्धयोः" वेट्त्वात् क्तयोर्नेट्, रद्धा—पक्वा धीः—बुद्धिः येषां ते रद्धधियः, "रगि गतौ"–गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद् रङ्ग्याः—प्राप्तुं

योग्याः, रुद्धधियश्च ते रङ्गाश्च रुद्धधीरङ्गास्तान् धियति-दधाति योऽसौ रुद्धधीरङ्गधेस्तस्मात्, "धित् धृतौ" विजन्तः। पुनः किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'सुनुः' सुष्ठु ना सुना, तस्मात् सुनुः—शोभनपुरुषात्। पुनः किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'अशिखरदप्येः' शिखराग्रमिव दन्ता येषां ते शिखरदन्तः, "वाऽग्रान्त-शुद्धशुभ्रवृषवराहाहिमूषिकशिखरात्" [सि. हे. ७।३।१५४] इत्यनेन सूत्रेण शिखरशब्दात् परस्य दन्तशब्दस्य बहुव्रीहौ दत्रादेशे समासान्ते शिखरदन्, न शिखरदन्तोऽशिखरदन्तः, "प्यैङ् वृद्धौ" विचि तैः प्यायते योऽसौ अशिखरदप्येस्तस्मात्। पुनः किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'अर्घ्यघोरप्रभोः' "घोरॄ गति-चातुर्ये" अचि घोराः—चतुराः, अर्घ्याश्च ते—पूजनीया घोराश्च चतुराः अर्घ्यघोराः, तेषां प्रभुः—स्वामी योऽसौ तथा तस्मात्। किम्भूताः अर्द्धपूरण्यमेरजितरवपरपुष्टाः? 'अकनिरतवरधर्त्तारः' "कं सुखं तोयं पयो दुःखं" [सौ. ए. २०] इत्युक्तेः कं-दुःखं, न कं अकं—सुखं, तत्र निरताः—आसक्ता ये ते अकनिरताः "वृङ्ग् सम्भक्तौ" वृणन्तीति वराः—सेवकाः, अकनिरताश्च ते वराश्च अकनिरतवरास्तेषां धर्त्तारो ये ते तथा। पुनः किम्भूतात् प्रकरणावेः ? 'कपारय्यदोः' कं—सुखं पारयन्ति—पूरयन्तीति कपारयाः—भव्यजनास्ते श्रावकत्वेन विद्यन्ते यस्य स कपारयी, "टुदुङ् उपतापे" विचि न दुनोतीति अदोः, कपारयी च अदोश्च कपारय्यदोस्तस्मात्। अकारः पादपूरणार्थमव्ययम् ॥ ३६ ॥

सोऽकारयद् वरक ! हारकदारजीवरः
सम रमण्यरणतेरपचारकापिरः।

नेतार, आशिरपमारय आरवन्त्यर-
मर्होर प्रत्युरसनौरलभूरशावरः ॥३७॥

व्याख्या—'हे वरक!' हे मित्र!, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"वरकः वधूजानिः सहायः वाजसनेयभेदश्च" [सि.हे.उ.सू. २७] इति। 'नेतारः' प्रस्तावात् मुखप्रापकाः पुरुषाः 'अरं' शीघ्रं 'आरवन्ति' समन्तात् शब्दयन्ति। किं तत्? 'सः' अरनाथजिनः 'समं' सुखं, यदुक्तमुणादौ—"समं[1] स्नानं[2] सुखं च" [सि. हे. उ. सू. ३३८] इति, 'अकारयत्' अकरोदित्यर्थः, स्वार्थे णिजन्तत्वाद् णिगर्थो न प्रतिपाद्यते, यथा—"रामो राज्यमकारयत्"। कस्य? 'रमण्यरणतेः' रमण्या—शोभना, "रमण्यं शोभनं" [सि. हे. उ. सू. ३७९] इति उणादिवृत्तौ, "रा लक्ष्मीः" [सो. ए. ८२] इत्युक्तेः रमण्या—शोभना रा—लक्ष्मीर्यस्यासौ रमण्यरः, "णः प्रकटे" [सु. ए २२] इति सुधाकलशोक्तेः "पूजायां तिः स्त्रियां" [वि. ए. ६१] इत्युक्तेः णाः—प्रकटा, तयः—पूजाः यस्यासौ णतिः, रमण्यरश्चासौ णतिश्च रमण्यरणतिस्तस्य रमण्यरणतेः—श्रावकजनस्य। किम्भूतः सः? 'हारकदारजीवरः' हारकस्य—कितवस्य "हारको गद्यविज्ञानभिदोः कितवचौरयोः" [अने. सं. का. ३ श्लो. ७०९] इति वचनप्रामाण्यात्, दारः—विदारणं यस्मात् स हारकदारः, जीवरः—दीर्घायुः, यदुक्तमुणादौ—"जीवरः दीर्घायुः" [सि. हे. उ. सू. ३९७] हारकदारश्चासौ जीवरश्च हारकदारजीवरः। पुनः किम्भूतः सः?

---

१. "मर्म-पुर्मे नान्ताऽदन्ते, दन्ततालव्याद्ये मते ॥४॥" शब्दरत्नाकरः का. ६. २. "स्यानं" इति मुद्रिते।

'अपचारकर्षिर' अप–गतश्चारकः–कारो येषां ते अपचारका, "चारकोऽश्वादिपाले स्याद् बन्धे" [अने. स. का ३ श्लो. ६४५] इति वचनप्रामाण्यात्, अपचारकाश्च ते ऋषयश्च–साधवः अपचारकर्षयस्तैः राजति–दीप्यते योऽसौ तथा। किम्भूता नेतारः? 'आशिरपमारय.' आशिरा इव–आदित्या इव ये ते आशिराः, यदुक्तमुणादौ–"आशिरः [विष्णुः] आदित्यश्च" [सि. हे. उ. सू. ४१५] अप–गता मारिर्येभ्यस्ते पमारयः, यदुक्तं–"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" [पा. सि. कौ. पृ. १०६] इति, आशिराश्च ते पमारयश्च आशिरपमारयः। पुनः किम्भूतः स.? 'अर्होः' "वस निवासे" क्विबन्तः, अर्हं–योग्यः उस्–वासो मुक्तिगृहं यस्यासौ तथा। अकारः पादपूर्त्तौ। पुनः किम्भूतः स.? 'प्रत्युरसनो' उरसि वर्तते देवत्वेन येषां ते प्रत्युरसाः, यद्वा उरसि देवत्वेन प्रतिष्ठितो यैस्ते प्रत्युरसाः–श्रावकास्तेभ्यो नौः–स्तुतिर्यस्मात् स तथा। पुनः किम्भूतः स.? 'अलभूः' "अल वारणपर्याप्तिभूषासु" इति वचनाद् अलन्तः, अलस्य–भूषाया भूः–स्थानं यः स तथा। पुनः किम्भूतः स.? 'अशावरः' "शावरो रोध्रपापयोः" [अने. स. का. ३ श्लो. १२०६] इत्युक्तेः न विद्यते शावरः–पापं यस्य यस्माद्वा स तथा ॥३७॥

सज्जूरनश्वर ! सुसोर किशोरभास्वरः,
कर्पूरहृत्करगुणोऽरयकारमेधिरः ।
सच्छारदोनरघनैरविशारदागर-
प्राग्भारविड्वरवियुक् रदनौरमन्थरः ॥३८॥

व्याख्या—'हे अनश्वर!' "नशौच् अदर्शने" नश्यतीत्येवंशीलो नश्वरः, "सृजीण्नशाष्ट्वरप्" [सि. हे. ५।२।७७] इत्यनेन शीलादिसदर्थे ट्वरप् प्रत्ययः, न नश्वरः अनश्वरः, तत्सम्बोधनं हे अनश्वर! हे सखे! 'सज्जूः' "जु गतौ" सौत्रो धातुः, सत्सु-साधुषु जुवति-गच्छतीत्येवंशीलः सज्जूः, दिद्युद्दृज्ज०" [सि. हे. ५।२।८६] इत्यादिसूत्रेण शीलादौ सत्यर्थे क्विप् निपातः, 'सुसोर' रातुमे। किम्भूतः सज्जूः? 'किशोरभास्वरः' किशोराः—तरुणाः प्रस्तावाच्छिष्यास्तैः भास्वरः—मनोज्ञो योऽसौ तथा, शिष्यशोभन इत्यर्थः। पुनः किम्भूतः सज्जूः? 'कर्पूरहृत्करगुणः' कर्पूरश्च—घनसारः हृत्करश्च—ईश्वरस्तद्वद् निर्मला गुणा यस्य स कर्पूरहृत्करगुणः। पुनः किम्भूतः सज्जूः? 'अरथकारमेधिरः' "रथकारस्तक्षणि स्यान्माहिष्यात् करणीसुते।" [अने सं. का. ३ श्लो. १६४६] इति वचनप्रामाण्याद् रथकाराः—क्षत्राद् वैश्याया जातो माहिष्यः, वैश्याच्छूद्राया जाता करणी, तयोः सुतः रथकारः, न रथकाराः अरथकाराः—उभयपक्षशुद्धा मेधिराः—मेधाविनो यस्यासौ तथा, मेधिर इत्यत्र "मेघार्थ्यान्नवेरः" [सि. हे. ७।२।४१] इत्यनेन सद [मत्व]र्थे इरप्रत्यये मेधिर इति निष्पत्तिः। पुनः किम्भूतः सज्जूः? 'सच्छारदीनरघनः' शरदि भवः शारदीनः—चन्द्रः सतां—सज्जनानां आह्लादकत्वेन शारदीन इव शारदीनः सच्छारदीनः, "रघौच् हिंसासंराध्योः", रघ्यन्ति—घ्नन्ति जीवान् इति अनटि रघनाः—हिंसकास्तेभ्य एति—याति योऽसौ रघनः, सच्छारदीनश्चासौ रघनश्च सच्छारदीनरघनः। पुनः किम्भूतः सज्जूः? 'अविशारदाशरप्राग्भारविड्वरवियुक्' आः—जनाः "अः कृष्णः

शङ्करो ब्रह्मा शक्रः सोमोऽनिलोऽनलः । सूर्यः प्राणो जन." [सौ. ए. २] इति वचनात्, तेषां मध्ये विशारदाः–विद्वांसो ये ते अविशारदास्तान् आगरयन्ते–समन्ताद् विजानन्ति ये ते अविशारदागराः "गृकङ् (गृणि) विज्ञाये विज्ञाने च" तेषां प्राग्भार.–अविषयं यस्मिन् स अविशारदागरप्राग्भारः, विड्वरः–दाम्भूब्धवस्नेन वियुग्–रहितो योऽसौ विड्वरवियुक्, अविशारदागरप्राग्भारश्चासौ विड्वरवियुक् चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूत. सज्जू. ? 'रदनोः' रदनैः–दन्तैः अवति–दीप्यते योऽसौ तथा । अविशारदागरप्राग्भारविड्वरवियुक् अग्रे रदनौरित्यत्र "न सन्धि." [सि हे. १।३।५२] इत्यनेन सूत्रेण सन्ध्यकरणमदुष्टम् । पुन· किम्भूत· सज्जूः ? 'अमन्थरः' अवक्रः, सरल इत्यर्थः, "मन्थर· सूचके कोशे, वक्रे" [अने. सं. का ३ श्लो. ११६०] इति वचनप्रामाण्यात् ।।३८।।

बुद्धैरबोधि रतिभूरशनैरनश्वर-
नम्रैरसूतिरयमेरदरैरदुर्द्धरः ।
सेव्यैरकच्चरवरैरमभैरसेश्वरः,
साक्षैरनूतिरदहैरपरैरमुर्मुरः ।।३९।।

व्याख्या—'बुद्धैः' पण्डितैः 'अयं' साम्प्रतं वर्ण्यमानो गुर्दजिन· 'रतिभूः' रा·च–दृढा· तयश्च–पूजा· रतयस्तासा भूः–स्थानं रतिभूः 'अबोधि' ज्ञात , श्रीअरनाथजिनः पण्डितै· पूजास्पदं ज्ञात इत्यर्थ. । कथं ? 'अशनैः' शीघ्रम् । किम्भूतैः ? 'अनश्वरनम्रै.' "अदं प्सांक् भक्षणे" अदन्तीत्येवंशीलाः "सृघस्यदो मरक्" [सि. हे. ५।२।७३] इत्यनेन शीलादिसदर्थे मरक्प्रत्यये

अघरा.–भक्षणशीलाः, न अघरा: अनघराः, नम्राः–नमनशीलाः, अनघराश्च ते नम्राश्च अनघरनम्रास्तैः। किम्भूतोऽयं ? 'असूतिः' न विद्यते सूतिः–जननं यस्य स तथा। पुनः किम्भूतोऽयं ? 'एः' एति–शिवश्रियं प्राप्नोति योऽसौ तथा, "इण् गतौ" विजन्तः। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अदरैः' भयरहितैः। पुनः किम्भूतोऽयम् ? 'अदुर्द्धरः' नोत्कट इत्यर्थः। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'सेव्यैः' सेवार्हैः। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अकच्चरवरैः' "मलिन कच्चरं" [अ. चि. ६।७१] इत्युक्ते न कच्चराः अकच्चरा.–गुणनिर्मलाः, अत एव वराः–श्रेष्ठा ये ते अकच्चरवरास्तैः। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अमभैः' "अम गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अलन्तः, अमेन–ज्ञानेन भाति–शोभते अमभास्तैः। पुनः किम्भूतोऽयं ? 'असेश्वरः' "असूच् क्षेपे" अचि अस्यन्ति–चत्वारि घातिकर्माणि क्षिपन्ति ये ते असाः–सामान्यकेवलिनस्तैः ईष्टे योऽसौ, "स्थेशभासपिसकसो वर." [सि. हे. ५।२।८१] इत्यनेन शीलादिमत्यर्थे वरप्रत्यये असेश्वरः। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'साक्षैः' सह अक्षैः–इन्द्रियैः वर्तन्ते इति साक्षास्तै.। पुनः किम्भूतोऽयं ? 'अनूतिः' "अव वधे" क्तौ ऊतिः, न विद्यते ऊतिः–वधो यस्मिन् स तथा। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अदहैः' दहो–दाहः, न दहन्तीति अदहास्तैः। पुनः किम्भूतैर्बुद्धैः ? 'अपरैः' अप–गतो रः–कामो येभ्यस्ते तथा तैः, "रः कामे" [मु. ए. ३६] इत्युक्तैः, गतकामैः। पुनः किम्भूतोऽय ? 'अमुर्मुरः' निर्मन्मथः, "मुर्मुरो मन्मथे" [अने. सं का. श्लो. ११६७] इति वचनप्रामाण्यात् ॥ ३६ ॥

कविरमसुरसंस्कारः पदारप्रभारः,
प्रसुर उदरभूसीरः कुटारः कुवेरः ।
चतुरकदरकेदारप्रनग् रद्विचारः,
शबरविधुरशृङ्गारक्षरोरङ्ग्यहोरः ॥ ४० ॥

व्याख्या—'प्रसुरः' "सुरत् ऐश्वर्यदीप्त्योः" प्रसुरति—प्रदीप्यते जगति यतिषु [वा] योऽसौ अधि प्रसुरः—श्रीअरनाथजिन भद्रं क्रियाद् इति शेष । किम्भूतः प्रसुरः ? 'कविः' विद्वान् । पुन किम्भूत प्रसुरः ? 'अमसुरसंस्कारः' "ममूरो मसुरोऽपि च । मसुरा च मसूरा च, चत्वारः पण्ययोषिति ॥ तथा व्रीहिविशेषेऽपि" [अने सं का. ३ श्लो. ११६१, ११६२] इति वचनप्रामाण्याद् न विद्यन्ते मसुराः—पण्ययोषितो येषां ते अमसुराः—सुशीलाः श्रावकास्तैः सह संस्कारः—अनुभवनं यस्य स तथा, "संस्कार प्रतियत्नेऽनुभवे" [अने. सं. का. ३ श्लो १२१६] इत्युक्ते.। पुन. किम्भूत प्रसुर ? 'पदारप्रभार' [पदारे–] पादालिन्दे–पादपीठे, "पदारः पादधूलिषु । पादालिन्दे" [अने सं. का ३ श्लो ११७४] इति हैमानेकार्थोक्ते, प्रभया–कान्त्या राजते–दीप्यते योऽसौ तथा। पुन. किम्भूत प्रसुरः ? 'उदरभूसीरः' उदरमेव–व्याधिरेव भूः उदरभूः–व्याधिपृथ्वी, तस्या विदारणे सीर इव–लाङ्गलमिव योऽसौ तथा । पुन. किम्भूतः प्रसुरः ? 'कुटारः' रतः, अर्थात् शिवश्यामरतः इत्यर्थः, "कुटारं[1] केवले रते" इत्युक्तेः वाच्यलिङ्ग.। पुनः किम्भूत प्रसुर ? 'कुवेरः' धनेन कुवेर इव–

१. "कुटीरं केवले रते" इति पाठा. अने. सं. का. ३ श्लो.११४२।

धनद इव योऽसौ तथा ।। पुनः किम्भूतः प्रभुरः? 'चतुरकदर-केदारप्रनग्', चतुराणां-विदुषः स्तुतिकर्तॄणां कदरः-क्षुद्ररोगः कुष्ठादिः स एव केदारः-आलवालस्तस्य "नशौच् अदर्शने" क्विवन्तः, प्रनशनं प्रनक्, प्रनग्-अदर्शन-नशनं, यस्मात् स चतुर-कदर[केदार]प्रनग्, "कदरः श्वेतखदिरे, क्रकचक्षुद्ररोगयोः ।।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११२६] इत्युक्तेः, "केदारः क्षेत्रभिद्याल-वाले" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११४५] इत्युक्तेः। पुनः किम्भूतः प्रभुरः? "रद्विचारः" "रम क्रीडायां" "गमां क्वौ" [सि. हे. ४।२। ५८] इति क्विपि [मकारलुकि] रमन्ते ज्ञानश्रिया समं ये ते रतः-पण्डितास्तैः सह विचारो-विचरणं यस्य स तथा। पुन. किम्भूत. प्रभुरः? "शबरविधुरशृङ्गारक्षरोः" शबराः-म्लेच्छाः विधुरा-विकलाः, ग्रथिला इत्यर्थः, "विधुरं स्यात् प्रविश्लेषे (प्रविश्लेषे), विकले" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०४] इत्युक्तेः, शृङ्गारः-सुरतः, "शृङ्गारो गजमण्डने, सुरते" [अने. स. का. ३ श्लो. १२१४] इत्युक्तेः, शबराश्च विधुराश्च शृङ्गाराश्च शबरविधुर-शृङ्गाराः, तेभ्यः क्षरन्ति-चलन्ति ये ते शबरविधुरशृङ्गारक्ष-रास्तेषां उः-पालनं यस्य स तथा, "रक्षार्थवाचकावेतौ, व्या-ख्यातौ लघुदीर्घकौ।" [वि. ए. ११] इति विश्वशम्भूक्तेः। पुनः किम्भूतः प्रभुरः? 'अङ्गचहोरः', "अगि गतौ" यवन्तः, अङ्ग्याः-प्रापणीयाः होराः-शास्त्राणि प्रस्तावाद् आचाराङ्गादीनि सिद्धान्तानि यस्यासौ तथा, "होरा तु लग्ने राश्यर्द्धे, शास्त्ररेखा-प्रभेदयोः ।।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ४७६] इति हैमानेकार्थ-वचनात् ।। ४० ।।

पस्फार संसरणनीरधितीरमित्वर-
नोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वरः ।
सुश्रीरकन्तुरसकौरपकौ रशान्त्यरः,
शान्तोरयोनिररतेरहतेरधूसरः ॥४१॥

व्याख्या—'असकौ सुश्रीः' शोभनलक्ष्मीक श्रीअर-नाथजिन. 'संसरणनीरधितीरं' ससरणं–संसार., "संसरणं त्वसम्बाधचमूगतौ । संसारे" [अने. सं. का ३ श्लो. १४६३–१४६४] इति हैमानेकार्थोक्ते., ससरणमेव नीरधिः संसरणनीरधिः–संसारसागर., नीरशब्दो जलवाची औणादिकः, तस्य तीरं–प्रान्तं तटं वा संसरणनीरधितीर, तत् ससरणनीरधितीरं 'पस्फार' प्राप्तवान्, "स्फर स्फलत् स्फुरणे, चलने [इत्येके]" इति धातुपारायणवचनाद्, गत्यर्थाना प्राप्त्यर्थत्वात् परोक्षायां णवि रूपम् । किम्भूतः [सुश्री.] ? 'इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरविदारजित्वरः' "इंण्क् गतौ" ज्ञानार्थोऽत्र, यन्तीत्येवंशीलाः "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि. हे. ५।२।७७] इत्यनेन ट्वरपि इत्वराः–पण्डिताः ना–नराः, "नो नरे च मनायेऽपि" [वि. ए. ७६] इति विश्वशम्भूक्तेः, तेषां उद्धारः–उद्धरणं नमारपातादिति येषां ते नोद्धारा., इत्वराश्च ते नोद्धाराश्च इत्वरनोद्धारा., त एव पुष्कराणि–पद्मानि तेषां विकासने सुसूर इव–प्रधानभानुरिव योऽसौ इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरः, विदारे–सङ्ग्रामे "विदारो युधि" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०३] इति वचनप्रामाण्यात्, शत्रून् जयनीत्येवंशील: "सृजीण्नशष्ट्वरप्" [सि. हे. ५।२।७७] इति ट्वरपि विदारजित्वरः, इत्वरनोद्धारपुष्करसुसूरश्चासौ

विदारजित्वरश्चेति कर्मधारये इत्वरनोद्धारपुष्करसुमूरविदार-जित्वरः। पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अकन्तुः' निष्काम, "कन्तुः कामकुसूलयो." [अने. सं- का. २ श्लो. १७५] इत्युक्तेः। पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'रपकोः' "रप भाषणे" अर्कचि रपन्ति-भाषन्ते स्याद्वादमिति रपकास्तान् अवति-रक्षति योऽसौ तथा। पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अशान्त्यरः' न शान्तिः-अशान्तिः, अशान्तेः न विद्यते राः-दानं यस्मिन् स तथा। पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'शान्तोः' शान्तानां-उपशमवतां उः-पालनं यस्य स तथा। पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अयोनिः' अकारणं, कस्य ? 'अरतेः' असुखस्य, कस्य ? 'अहृतेः' अहिंसकस्य। पुनः किम्भूतः सुश्रीः ? 'अधूसरः' निर्दोषत्वाद् निर्मल इत्यर्थः ॥४१॥

विजर! विकर शुभ्रेरं नसारण्डझार-
गमिरटगरगान्धारप्रहेरस्वपोरः।
छिदिरविधरदण्डारस्वभूरर्घ्यदोर,
प्रवरपदरविन्दो रम्वसूरथ्यधूरः ॥४२॥

व्याख्या—'हे विजर !' विगता जरा यस्मात् स विजरस्तत्सम्बोधनं हे विजर !—हे श्रीअरनाथजिन ! 'अं' परब्रह्म 'विकर' विशेषेण कुरु, "अं मान्तो ब्रह्मसंवादे, परब्रह्मप्रवाचकः।" [वि. ए १६] इत्युक्तेः। कस्य ? 'शुभ्रेः' शुभ्रा निर्दोषत्वाद् धर्मोपार्जितत्वाद्वा इः-लक्ष्मीर्यस्यासौ शुभ्रेः, तस्य शुभ्रेः-भक्तश्रावकस्य। किम्भूतस्त्वं ? 'नसारण्डझारगमिः' सरण्डाः-धूर्ताः, "सरण्डः स्यात् कृकलासे,

रचयः? 'कान्तैः' वल्लभैः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'रमयेः' रमयस्य–प्रहर्षस्य ईः–क्षेपो यस्मात् स तथा, "रमथः प्रहर्षः" [सि. हे. उ. सू. २३२] इत्युणादिवचनात् । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अमुद्गरः' प्रहरणविशेषरहितः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'काश्मीरजार्चिः' काश्मीरजेन–घुसृणेन अर्चिः–पूजा यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अकुठेरकथेरपीवरनिश्चौरकः' कुठेरः–निस्सृतसारः, न कुठेरः अकुठेरः, कथेरः–कथकः धर्मवक्ता इत्यर्थः, कुठेरकथेरशब्दौ औणादिकौ, पीवरः–पुष्टः शरीरेणेति गम्यते, न तु कृशतनुः, निर्गतं चौरकं–चौरिका यस्मात् स निश्चौरकः, चतुर्णां कर्मधारयः, "चोरादेः" [सि. हे. ७।१।७३] चोरादिभ्यस्तस्य भावे कर्मणि चाकञ्प्रत्यये चौरकम् । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'करचनोरलघूः' कस्य–मुखस्य रचना–विरचनं यस्य स करचनः, उरलाः–उत्कटाः–मदोत्कटास्तान् धुवति योऽसौ उरलधूः, "धूत् कम्पे" क्विबन्तः, करचनश्चासौ उरलधूश्चेति कर्मधारयः । पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अभङ्गुरः' न भङ्गुरः अभङ्गुरः–न नश्वर इत्यर्थः, "भङ्गुरो वक्रनश्वरौ" [अने. सं. का ३. श्लो ११८४] इत्युक्ते ॥ ४३ ॥

बन्धूरनागरकभैरवचोरडम्फरः,
फर्जूरवाशुरविमोरखट्टूरकर्परः ।
पिण्डारशार्वरमसूरनिकारशावरः,
साधून् ररक्ष रजतीरवनोरदर्वरः ॥४४॥

व्याख्या—'अदर्वरः' नास्ति दर्वरः–वधो यस्य सोऽदर्वरः–श्रीअरनाथजिनः 'साधून्' मुनीन् 'ररक्ष' पालयामास ।

किम्भूतोऽदर्वरः? 'वन्धूरनागरकभैरवचोरडस्फरः' "वन्धूरो रम्यनम्रयोः।" [अने. सं. का ३ श्लो. ११८१] इत्युक्तेः वन्धूराः–नम्रा रम्या वा नागराः–लोका यस्मिन् स वन्धूरनागरः, केन–दुःखेन भैरवाः–घोराः कभैरवाः ते च ते चोरडाश्च–तस्कराः कभैरवचोरडाः,तेषां स्फरः–गमनं यस्मात् स कभैरवचोरडस्फरः, "स्फर स्फल्ल् स्फुरणे, चलने इत्येके" इति धातुपारायण-वचनात् अलन्तः, वन्धूरनागरश्चासौ कभैरवचोरडस्फरश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूतोऽदर्वरः? 'कर्जूरवाशुरविभीः' कर्जूराः–मलिनाः पापमलिनाः, अत एव शठत्वाद् वाशुरा इव–गर्दभा इव ये ते कर्जूरवाशुराः, तेषां विशिष्टा भीः–भतिर्यस्मात् स कर्जूरवाशुरविभीः, कर्जूरवाशुरशब्दौ औणादिकौ, "भीकि गत्यां मत्यां" [कवि क. श्लो.] इति कविकल्पद्रुमोक्तेः क्विबन्तः। पुनः किम्भूतोऽदर्वरः? 'अखट्टरकर्परः' खट्टरः–मणिविशेषः, "खट्टरो मणिविशेषः" [सि. हे. उ. सू. ४२७] इत्युणादिवृत्तौ, कर्परः–शस्त्रविशेषः, खट्टरश्च कर्परश्च खट्टरकर्परौ, तौ न स्तः यस्य स तथा, "कर्परस्तु कटाहे स्याच्छस्त्रभेदकपालयोः।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११३०] इति वचनप्रामाण्यात्। पुनः किम्भूतोऽदर्वरः? 'पिण्डारशार्वरमसूरनिकारशाकरः' पिण्डारः–भिक्षुकः, "पिण्डारो भिक्षुके" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७८] इति हेमाचार्याः, शार्वराः–घातुकाः "शार्वरं घातुके" [अने. सं. का. ३ श्लो. १२०६] इत्युक्तेः, मसूराः–पण्ययोषितः, "मसूरो मसुरोऽपि च। मसुरा च मसूरा च, चत्वारः पण्ययोषिति ॥ तथा व्रीहिविशेषेऽपि" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११९०, ११९१] इत्युक्तेः, शार्वराश्च मसूराश्च शार्वरमसूरास्तेषां निकारः–पराभवो येषां

ते "निकारस्तु पराभवे ।। धान्योत्क्षेपे" [अने. सं. का ३ श्लो. ११६९, ११७०] इत्युक्तेः शार्वरमसूरनिकाराः, पिण्डाराश्च ते शार्वरमसूरनिकाराश्च पिण्डारशार्वरमसूरनिकाराः, तेषां मध्ये शाक्कर[1]इव–वृषभ इव योऽसौ तथा । पुनः किम्भूतोऽदर्वरः ? 'रजती.' "रञ्जी रागे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५। ३।१३८] इति तिवि, रजतिः–रागः प्रस्तावाद् धर्मरागः तस्य इः–प्रापणं यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतोऽदर्वरः ? 'अवनोः' अव–निश्चितो नोः–स्तुतिर्यस्मात् स तथा, "णुक् स्तुतौ" विजन्तः ।। ४४ ।।

मृदरनिकरहारी रन्ध्रहोऽरक्षदारः,
शिबिरभिदिरकृद् गौरप्रजीरः पवीरः ।
वठरवमरवित्ती रम्भतीरम्मदा रः,
सदुरसिलरक्कूरक्षपारक्कुरीरः ।।४५।।

व्याख्या—'मृदरनिकरहारी' मृदराणा–व्याधीनां निकरः–समूहः मृदरनिकरः, तद् हरतीत्येवंशीलो मृदरनिकरहारी 'अरः' अरनाथजिनः 'अरक्षत्' अपालयत् सेव[का]निति शेषः । किम्भूतोऽरः ? 'रन्ध्रहः', रन्ध्राणि प्रस्तावात् पापच्छिद्राणि तानि हन्ति योऽसौ रन्ध्रहः–पापच्छिद्रभञ्जक इत्यर्थः । आकारः सम्बोधनार्थमव्ययम् । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'शिबिरभिदिरकृत्' शिबिरस्य–सैन्यस्य भिदिरं–भेदं तत् करोतीति यः स तथा, "भिदिरं [2]वज्रं भेदश्च" [सि. हे. उ. सू. ४१६] इत्युणादौ ।

१. "शाक्करस्तूक्षा" इति अने. सं. का. ३ श्लो १२१० ।
२. "भिदिरः अशनिः भेदश्च" इति मुद्रितायां हैमोणादिवृत्तौ ४१६ ।

पुनः किम्भूतोऽरः? 'गौः' "गुङ शब्दे" विचि गुवति-धर्म शब्दयति योऽसौ तथा। पुन. किम्भूतोऽरः ?'अप्रजीरः' प्रकृष्टाः जीराः प्रजीराः-प्रधानाश्वाः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"जीरः अजाजी अग्नि. [1]स्नायुः अश्वश्च" [सि. हे. उ. सू. ३९२] इति, न सन्ति प्रजीरा यस्यासौ तथा, त्यक्तगृहस्थावासत्वात्। पुनः किम्भूतोऽरः? 'पवीरः' धर्मेण निर्मलः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"पवीरं रङ्गस्थानं फलं पवित्रं च" [सि. हे. उ. सू. ४१८] इति। पुनः किम्भूतोऽरः? 'वठरवमरवित्तिः' [2]वठराः-बृहद्देहा ये वमराः-मूर्खाः दुर्मेधसः, यदुक्तमुणादौ-"वमराः दुर्मेधसः" [सि. हे. उ. सू. ३९७] वठरवमरास्तेषां वित्तिः-ज्ञानं यस्मात् स तथा, बृहद्देहशठानां ज्ञानप्रद इत्यर्थः। पुनः किम्भूतोऽरः? 'रम्भती-रम्मदाः' "रभिङ् शब्दे" "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे. ५।३।१३८] इति श्तिवि, रम्भतिः-शब्दनम्, तं एति-व्याख्यानक्षणे प्राप्नोति योऽसौ। रम्भती, इरा-सुरा तया माद्यन्ति-हृष्यन्ति ये ते इरम्मदाः-मद्यपानकराः, तेभ्योऽस् गमनं-भजनं यस्य स इरम्मदाः, "असङ् अथार्थे" "अथार्थे दीप्तिग्रहणगतिषु" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः, रम्भतीश्चासौ इरम्मदाश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूतोऽरः? 'रः' रवति शुभं योऽसौ [3]डेरः, शुभरवक इत्यर्थः। पुनः किम्भूतोऽरः? 'सदुरसिल' सन्तः प्रशस्ताः ये उरसिलाः सदुरसिलाः-प्रशस्तोरस्वन्तस्तान् आचष्टे

१. "वायुः" इति मुद्रितोणादिवृत्तौ।

२. "वठर-मूर्खः बृहद्देहश्च" इति हैमोणादिवृत्तौ सू. ३९७। अनेकार्थे तु "वठरो मूर्खशठयोः" ९८१॥ इति ३।१।

३. 'डे' प्रत्यये कृते इत्यर्थः।

इति सदुरसिलयति, सदुरसिलयतीति णिजि तल्लुकि क्विपि तल्लुकि च सादुरसिल् । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'अररुक्रूरक्ष-पारक्कुरीरः' अरवः—असुराः, यदुक्तमुणादिवृत्याम्— "अररुः असुर आयुधं मण्डलं च" [सि. हे. उ. सू. ८१२] तद्वत् क्रूरा ये ते अररुक्रूराः—दुर्दान्ताः शत्रवस्तान् क्षयति योऽसौ अररुक्रूरक्षः, "क्षि क्षयैश्वर्ययोः" इत्युक्तेः, पारजः—रत्नानि, प्रस्तावाद् गुणरत्नानि, यदुक्तमुणादिवृत्तौ— "पारण् कर्मसमाप्तौ" "पारेरज्" [सि. हे. उ. सू. ८७३] इति सूत्रेणाज्प्रत्यये "पारक् शाकविशेषः प्राकारः सुवर्णं गुणरत्नं च", इति, पारजां—गुणरत्नानां कुरीरः—आलयो योऽसौ पारक्कुरीरः, अररुक्रूरक्षश्चासौ पारक्कुरीरश्चेति कर्मधारयः ॥४५॥

शर्मारर नुररणेरमतेरभर्भर !,
खेतेरमर्मरनुतेरगतेरपत्सर !।
धीस्थूरकर्बरभजेरजजेरनातुर !,
न्यक्कारहानिररपूरप्रतारणाघर ! ॥४६॥

व्याख्या—हे 'अभर्भर !' न भर्भरोऽभर्भरस्तत्सम्बोधनं हे अभर्भर !—हे अच्छद्मवन् !, "भर्भरः छद्मवान्" [सि. हे. उ. सू. ६] इत्युणादिवचनप्रमाणात्, अहं 'शर्म' भद्रं 'आरर' अत्यर्थं अप्रापम् । कस्मात् ? 'नुः' मनुष्यात् श्रीअरनाथ-लक्षणात् । किम्भूतान्नु ? 'अमतेः' कालस्य 'अरणेः' "रण गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद्, न विद्यते रणिः—प्रापणं यस्मात् स अरणिस्तस्मात् अरणेः । पुनः किम्भूतान्नुः ? 'खेतेः' खम्य—सुगम्य इतिः—प्रापणं यस्मात् स खेतिस्तस्मात्, "खमिन्द्रियं

स्वर्गे शून्यं, भूपाऽऽकाशमुखेषु च।" [मु.ए.११] इति सुधाकलश-वचनप्रामाण्यात्। पुनः किम्भूतान्नुः? 'अमर्मरनुतेः' न विद्यन्ते मर्मराः—दानवाः शत्रुत्वेन येषां ते अमर्मराः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ—"मर्मरः शुष्कपत्रप्रकरः तद्धर्माऽन्योऽपि क्षोदागहिष्णुर्दानवश्च" [सि. है. उ. सू. ६] इति, अमर्मराः—चतुःषष्ठिरिन्द्रास्तेभ्यो नुतिः—स्तुतिर्यस्य स तथा तस्मात्। पुनः किम्भूतान्नुः? 'अगतेः' नास्ति गतिः प्रस्तावान्नरकगतिर्यस्मात् स तथा तस्मात्। किम्भूत हे अमर्मर!? 'अपस्मर!' "स्मर छद्मगतौ" अपगतः, अपगतः स्मरः—छद्मगतिर्यस्य स तथा तत्सम्बोधनम्। पुनः किम्भूतान्नुः? 'धीस्थूरकर्बरभजेः' धिया—बुद्धया स्थूराः—उच्चा ये ते धीस्थूराः—विद्वांसः, "स्थूरः [1]बधिरः उच्चश्च" [सि. है. उ. सू. ४२६] इति उणादिवचनात्, धीस्थूरेषु कर्बरा इव—व्याघ्रा इव ये ते धीस्थूरकर्बरास्तेषु भजिः—सेवा यस्य स तथा तस्मात्, "भजजी भागसेवयोः" इत्युक्तेः, "इकि-श्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. है. ५।३।१३८] इति इः प्रत्ययः। पुनः किम्भूतान्नुः? 'अजजेः' निर्युद्धात्, "जज जजि युद्धे" इ-प्रत्ययान्तः। पुनः किम्भूत हे अमर्मर!? 'अनातुर!' न आतुरः अनातुरस्तत्सम्बोधनम्। पुनः किम्भूतोऽहं? 'न्यक्कारहानिः' न्यक्कारस्य—न्यक्करणस्य [हानिः—क्षतिः यस्य] स तथा। पुनः किम्भूतोऽहं? 'अरपूः' "ऋंक् गतौ" ये ते सुगममपि यं प्राप्नुवन्ति, अचिरअरेमितएव.(?)। पुनः किम्भूत हे अमर्मर!? 'अप्रता-रणाधर!' "वञ्चनं तु प्रतारणं" [अभि.चि. ३।४३] इत्यभिधान-कोषवचनाद्, नास्ति प्रतारणं—वञ्चनं यस्मिन् सः अप्रतारणः,

---

१. 'वटर.' इति पुस्तिकोणादिवृत्तौ।

"घृ भामि" अचि, भया–लक्ष्म्या जिघर्त्ति–भासते योऽसौ आघरः, अप्रतारणश्चासौ आघरश्चेति कर्मधारये अप्रतारणाघर-स्तत्सम्बोधनम्॥४६॥

लक्ष्मीरबीभरदभीरतवेरटेतर:,
साधूरकर्तृरगुरोरहरेरदुष्करः।
सह्योरसूकरमनोरथपारभुर्भुरः,
सह्रीरज्झर्झरसवीरतरेरगह्वरः ॥४७॥

व्याख्या—'अभी' न विद्यते भीः–भयं यस्मात् सोऽभीः–श्रीअरनाथजिनः 'लक्ष्मीः' श्रियः 'अबीभरत्' अत्यर्थं अपोषयत्। कथं ?'अकर्तृ' "अत सातत्यगमने" अतन्ते–ज्ञायन्ते धर्माधर्म-फलानि एभ्य इति "क्वचिड्" [सि. हे. ५।१।१७१] इति डे, अ.–सिद्धान्तानि तेषां कर्तृ अकर्तृ एव यथा स्यात्तथा। कस्य लक्ष्मीः अबीभरत्?'अगुरोः' "अज क्षेपे गतौ" क्विबन्तः, अक्–ज्ञानं तेन उरु–गरिष्ठो योऽसौ अगुरुस्तस्य अगुरोः–श्रावकस्य। अकर्तृ अग्रे अगुरोरित्यत्र "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्" [सि हे. १।२।२१] इति सूत्रस्य पञ्चमीव्याख्यानतः ऋकारात्पर-स्याकारस्य रकारादेशे जाते अकर्तृरगुरोरिति निष्पत्तिः। किम्भूतोऽभी ? 'अतवेरटेतरः' अतन्ति–जिनोक्तधर्मादपरं धर्मं सातत्येन प्राप्नुवन्ति येभ्यो ये ते अता –हरहरिब्रह्मादयो देवाः, ते च ते वेरटाश्च–नीचा अतवेरटाः, "अथ वेरटः॥ मिश्रीकृते च नीचे च" [अने. म का ३ श्लो. ७६७, ६८] इति हैमानेकार्थ-वचनात्, अतवेरटेभ्य इतर –अन्यो यः स तथा। पुनः किम्भू-तोऽभीः ?'साधूः' साया:–लक्ष्म्याः धूः–धुराभारो यस्यासौ तथा।

किम्भूतस्य अगुरोः ?'अहरेः' हरति परद्रव्याणि यः सः हरिः, न हरिः अहरिस्तस्य तथा, साधोरित्यर्थः। पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'अदुष्करः' न विद्यते दुष्करं किमपि यस्यासौ तथा । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'सह्योः' "सह्यो नीरुजि" इत्युक्तेः सह्याः–नीरुजस्तेषां उः–पालनं यस्मिन् न तथा । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'असूकरमनोरथपारभुर्भुरः' सूकरप्रायत्वात् सूकराः–शठाः, न सूकरा असूकराः–चतुरास्तेषां मनोरथपाराः–कामितपूरकाः "कर्मणोऽण्" [सि. हे. ५।१।७२] इत्यण्, असूकरमनोरथपाराः–देवास्तेषां भुर्भुरः–निचयो भक्त्यर्थं यस्य स तथा, भुर्भुरशब्द औणादिकः। पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'सह्रीः' सलज्जः । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'अझर्झरसवीरतरैः' न सन्ति झर्झराः–वाद्यविशेषा आत्मनो वादनार्थं येषां ते अझर्झराः, सह वीरतरैः–वीरश्रेष्ठैः वर्तन्ते ये ते सवीरतराः, "वीरतरो वीरश्रेष्ठे" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६९३] इत्युक्तेः, अझर्झराश्च सवीरतराश्च अझर्झरसवीरतराः–राजानस्तेषां ईः–लक्ष्मीर्यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतोऽभीः ? 'अगह्वरः' नास्ति गह्वरः–दम्भो यस्मिन् स तथा, "गह्वरो विलदम्भयोः" [अने. सं. का. ३, श्लो. ११५०] इत्युक्तेः ॥४७॥

वन्दारवो ! निरयदारव ! आं रराम रः,
कञ्चारवो ! धरणधारण एरपञ्जरः ।
श्रीसारसासरणिपूरणसारणासिर-
विस्तारकोऽगिरणचूरणजारतत्परः ॥४८॥

व्याख्या — भो 'वन्दारव!' वन्दनशीला ये ते वन्दारवस्तत्सम्बोधने हे वन्दारवः! —भो सुहृदः! 'र.' रम्भयति लोकान् योऽसौ रः— श्रीअरनाथजिनः 'आ' श्रियं–धर्मलक्ष्मी 'रवास' अब्रवीत्, व्याख्यानक्षणे इत्यध्याहार्यम् । किम्भूता हे वन्दारव.? 'निरयदारव.!' निरयस्य–नरकस्य दारव.–दारका ये ते निरयदारवस्तत्सम्बोधनम् । पुन किम्भूता हे वन्दारव ? 'कम्चारवः' सुखप्रधानास्तत्सम्बोधनम् । किम्भूतोऽरः ? 'धरणधारण:' धरणान्–लोकान् संसारसागरपतनाद् धारयति योऽसौ तथा, "धरणोऽहिपतौ लोके" [अने. स. का. ३ श्लो. ८०५] इति हैमानेकार्थात् । पुनः किम्भूतोऽर ? 'ए.' कृतार्थः, "एः कुमारोऽसुरोऽरातिर्ज्ञातीयोऽहित उद्धत । आत्मा शेषो विवस्वांश्च कृतार्थो मध्वरि द्वार. ॥" [सौ. ए १२] इति सौभरिवचनात् । पुनः किम्भूतोऽर ? 'अपञ्जर ' नास्ति पञ्जरः–जीवबन्धनस्थानं यस्मिन् स तथा । पुन. किम्भूतोऽरः ? 'श्रीसारमासरणिपूरणसारणासि ' श्रीः–शोभा लक्ष्मीर्वा मा एव सारम–पद्म तद्विकाशनार्थं आ–समन्तात् सरणिरिव–भानुरिव ये ते श्रीमारमामरणय., तेषां पूरण–प्रकरणात् सुगम्य पूरणं यस्मात्स श्रीमारमामरणिपूरण, मारण –अनीसारस्तस्य असि –क्षेपो यस्मात् स मारणामि, "मारण स्यादतीसारे" [अने. सं. का. ३ श्लो. ८२७] इति वचनप्रामाण्यात्, श्रीसारसाररणिपूरणश्चासौ सारणासिश्चेति कर्मधारय । पुन किम्भूतोऽरः ? 'अविस्तारक:' आ.–मुनिनस्तेषां विस्तार एव विस्तारको यस्मिन् स तथा, "अ कृष्णः शङ्करो ब्रह्मा शक्रः सोमोऽनलोऽनल.। सूर्यः प्राणो जनः कालो पवनः प्राणत: मुनी ॥"

[सो. ए. २] इति वचनप्रामाण्यात्। पुनः किम्भूतोऽरः? 'अगिरणचूरणजारतत्परः' गिरणाः–आचार्याः, यदुक्तमुणादिवृत्तौ–"गिरणः मेघः आचार्यो ग्रामश्च" [सि. हे. उ. सू. १८८] इति, न गिरणा अगिरणाः, नञ्शब्दस्य कुत्सार्थत्वाद् अगिरणाः–कुत्सिताचार्यास्तेषां चूरणं–नाशो येभ्यस्ते अगिरणचूरणाः–बौद्धास्तेषां जारः–न्यक्कारस्तत्करणे तत्परः–सावधानो योऽसौ अगिरणचूरणजारतत्परः ॥४८॥

पुस्फोर कीर्त्तिरदनारतमेरमन्दिर-
रन्तेरतूवरचकोरनिशारमण्यर! ।
रैहारयो हरय ओरसवारकातर–
कंसेरवो मरकशूरणनीरवित्पुर! ॥४९॥

व्याख्या—हे 'अत्!' "अत सातत्यगमने" क्विबन्तः, अतति–सातत्येन जिनप्रणीतं धर्मं प्राप्नोति योऽसौ अत्, तत्सम्बोधनं हे अत्!–हे श्रावक! 'हरयः' इन्द्राश्चतुःषष्टिसङ्ख्याका रवन्ति इति शेषः। तत् किं? 'पुस्फोर' चचाल, का? 'कीर्तिः' यशः, कथं? 'अनारतं' निरन्तरं कस्य? 'एः' "इं गतौ" क्विम्, अयति–वेत्ति शुभाशुभमिति एः तस्य एः। 'अमन्दिररन्तेः' न सन्ति मन्दिराणि–गृहाणि येषां ते अमन्दिराः–यतिनस्तैः सह रन्तिः–क्रीडा यस्यासौ अमन्दिररन्तिस्तस्य। किम्भूत हे अत्? 'अतूवरचकोरनिशारमण्यर!' तूवराः–अजननीकाः कुमातृकत्वेन, यदुक्तमुणादौ–"[1]तूवरः मन्दश्मश्रुः अजननीकश्च" [सि. हे. उ.

1. "तूबरः" इति मुद्रिते

मू. ४८३] इति, न तूवरा अतूवराः–उभयपक्षशुद्धाः पुमांसस्त एव चकोरास्तेषां आह्लादकरणाय निशाया रमणो निशारमणः– चन्द्र स इव ये ते अतूवरचकोरनिशारमणाः, ते विद्यन्ते येषां ते अतूवरचकोरनिशारमणिनः, तैः रलयोरैक्याद्, अलति–शोभते योऽसौ अतूवरचकोरनिशारमणयरस्तत्सम्बोधनम्। किम्भूता हरय ? 'रैहारय' राया–द्रव्येण हारयश्चारवो ये ते तथा, "चारु हारि" [६ । ८०] इति अभिधानकोषवचनात्। पुनः किम्भूता हरय ? 'औरसवारकातरकंसेरवः', उरसा–हृदा मनसा कृतानि सेवकजनानां वाञ्छितानि यैस्ते औरसाः–सामान्यदेवाः, "उरसो याणौ" [सि. हे ६।३।१९६] इति सूत्रेण उरस्शब्दात् तेन कृते अण्प्रत्यये औरस इति निष्पत्तिः, वार एव वारकः, समूह एवेत्यर्थः, औरसानां वारको येषु ते औरसवारका, "तृ तारे ऽभिभवे प्लुरया" इत्युक्तेः अलन्तः, आ–सामस्त्येन तरः–अभिभवो येषु ते आतराः–दानवास्तेषां कं–सुखं [त]स्य सेरव –बन्धका ये ते आतरकसेरवः, औरसवारकाश्च ते आतरकसेरवश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूत हे अत् ? 'मरकसूरणनीरविलुर !' "मरको मारि" [२।२३६] इत्यभिधानकोशोक्तः मरकस्य–मारेः सूरणं–नाशो यस्मात्स मरकसूरणः, "सूर् पूर्व हीस्तम्भे हिंसे" इति कविकल्पद्रुमधातुपाठोक्तेः, "ई वधे गत्या" क्तिप्रत्यये रवितं, निर्गतं रवितं वधो येभ्यस्ते नीरविता, मरकसूरणाश्च ते नीरविताश्च मरकसूरणनीरवितास्ते सन्ति येषां ते मरकसूरणनीरवितिनः–आचार्याः, तान् उरति–प्राप्नोति गुरुत्वे योऽसौ तथा, तत्सम्बोधनम् "उर् गतौ" सौत्रो धातुः अजन्त. ॥४६॥

किर्मीरचङ्कुरनुगौरवकेरडस्फरः,
काण्डीरयोद्धृरवतार ! ततार भास्करः ।
कल्हारदृष्टिरनवीरनुदारयित्वरः,
कासारसच्छंरगतीरजनीरमन्दरः ॥५०॥

व्याख्या — हे 'अवतार !' अवतारः—अवतरणं संसारस्य यस्य स अवतारः,तत्सम्बोधनं हे अवतार !—हे गुरो !, "अवतारस्तु नद्यादितीर्थेऽप्यवतरणेऽपि च।" [अने. सं. का. ४ श्लो. १६१०]इत्युक्तेः। 'भास्करः' सूर्यः,ज्ञानालोकप्रकाशनकारकत्वात्, भास्कर इव भास्करः—श्रीअरनाथजिनः 'ततार' जितवान् । किं तत् ? 'काण्डीरयोद्धृ,' काण्डाः—बाणाः विद्यन्ते येषां ते काण्डीराः, "काण्डाण्डभाण्डादीरः" [सि. हे. ७।२।३८] इति सूत्रेणेरप्रत्यये काण्डीरः, काण्डीरा योद्धारो विद्यन्ते यस्मिंस्तत् काण्डीरयोद्धृ तत् काण्डीरयोद्धृ-प्रस्तावाद् बाह्ययुद्धम् । काण्डीरयोद्धृ अग्रे अवतार इत्यत्र "इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलं" [सि. हे. १।२।२१] इत्यस्य सूत्रस्य पञ्चमीव्याख्यानाद् ऋकारात्परस्याकारस्य रकारादेशे काण्डीरयोद्धृरवतारेति सिद्धिः। किम्भूतो भास्करः ? 'किर्मीरचङ्कुरनुगौरवकेरडस्फरः' किर्मीरा इव—दैत्या इव ये ते किर्मीराः,प्रस्तावात् शत्रवः, "किर्मीरः शबले दैत्ये" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११३८] इति वचनात् किर्मीराः—कषायचतुष्कलक्षणाः शत्रवस्ते चङ्कुराः—अनवस्थिता यस्मात् स किर्मीरचङ्कुरः, चङ्कुरशब्द औणादिकोऽनवस्थितवाची, नोः—स्तुतेः गौरवं—गुरुत्वं येषां ते नुगौरवाः, केरडाः—वैराज्ये राजानः "केरडः वैराज्ये राजा" [सि. हे. उ. सू. १७२] इत्यु-

णादिवचनात्, नुगौरवाश्च ते केरडाश्च नुगौरवकेरडा., तान् स्पृणोति–प्राणयति योऽसौ नुगौरवकेरडस्परः, "स्मृ स्पृ प्रीतिरक्षाप्राणने" इति वचनात्, किर्मीरश्चङ्करश्चासौ नुगौरवकेरडस्परश्चेति कर्मधारय. । पुनः किम्भूतो भास्करः ? 'कल्हारदृष्टि'' कमललोचन', कल्हारशब्द औणादिक उत्पलविशेषवाची । पुनः किम्भूतो भास्कर.? 'अनवीः' न विद्यन्ते अवयः–स्त्रियो यस्यासौ तथा, यदुक्तमुणादौ—"अवीः प्रकाशः आदित्यः भूमिः पशु' राजा स्त्री च" [सि. हे. उ. सू. ७११] इति । पुनः किम्भूतो भास्कर' ?'अनुदारधित्वरः' न विद्यते उदारधि.–विष्णुः देवत्वेन येषां ते अनुदारधय'–जैनास्तेषु त्वरा यस्यासौ तथा, यदुक्तमुणादौ –– "उदारधि विष्णु'" [सि. हे. उ. सू. ६७२]। पुनः किम्भूतो भास्कर ? 'कासारसच्चरगतीरजनीः' कसारा'–हिंस्राः, "कासारः हिंस्रः" [सि हे. उ. सू. ४०५] इति उणादिवृत्तेः, कसारा एव कासाराः, ऋच्छराः–वेश्याः कुलटा वा, यदुक्तमुणादौ–"ऋच्छरा वेश्या कुलटा त्वरा [अङ्गुलिः] च" [सि. हे. उ. सू. ३९७] इति, सह ऋच्छराभिर्वर्तन्ते ये ते सच्छराः, कासाराश्च ते सच्छराश्च कासारसच्छराः–हिंसकलम्पटाः, तेभ्यो गतिः–गमन येषां ते कासारसच्छरगतयः–श्रावकाः, तेषां ईः–लक्ष्मीस्तस्या ह्लादकारित्वाद् रजनि–यामिनी अयति–प्राप्नोति योऽसौ रजनीः–चन्द्रः, रजनीरिव–चन्द्रमा इव योऽसौ तथा । रजनिशब्दस्य उणादिवृत्तौ इकागन्तत्वाभाव पौनरुक्त्यम् । पुनः किम्भूतो भास्कर. ? 'अमन्दर'' अमन्द., "मन्दरो मन्थपर्वते । स्वर्गमन्दारयोर्मन्दे" [अने. सं. का. ३ श्लो ११८७] इति हैमानेकार्थोक्तेः ॥५०॥

सनिरपुनरगर्हो रम्फसूरं ननार,
जयिरकररलोकैरर्कितोऽरत्निधीरः।
परिदिविविरतप्रारम्भदौरम्भ्यगौर,
विहरणिमरणीमीरर्कसूरः प्रटारः॥५१॥

व्याख्या—'अः' अर्हन् श्रीअरनाथजिनः 'ननार' प्राप्तवान्, "णृ नीतौ"। किं तत्? 'रम्फसूरं' "रफि गतौ" गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वाद् अलन्तः, रम्फः—ज्ञानं केवलज्ञानं तेन "शूर्-पूर्यङ्गी स्तम्भे हिंसे" इत्युक्तेः अलन्तः, सूरो—हिंसनं चतुर्णां कषायाणां यस्मात् स रम्फसूरः—यतिधर्मस्तं रम्फसूरं। किम्भूतः अः? 'सनिः' सम्भक्ता, "[1]सनिः सम्भक्ता" [सि. हे. उ. सू. ६०७] इत्युणादिः, तपसा भितिः, तपःकर्त्तेत्यर्थः। पुनः किम्भूतः अः? 'अपुनरगर्हः' पुनः अगन्ति—पुनः मुक्तिमार्गात् कुटिल यान्ति ये ते पुनरगः—मिथ्यादृष्टिनः, "अक [अग] कुटिलायां गतौ" क्विबन्तः, न पुनरगोऽपुनरगः, तेषां अर्हः—योग्यो यः स तथा। पुनः किम्भूतः अः? 'जयि' राजा, साधूनां इत्यवगन्तव्यम्। पुनः किम्भूतः अः? 'अर्कितः' स्तुतः, "अर्कण् स्तुतौ" अलन्त, कैः? 'अकररलोकैः' न कररा: अकररा:—अदीनाः, "कररः खगे, करीरे क्रकचे दीने" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११२७, ११२८] इति हैमानेकार्थात्, अकरराश्च ते लोकाश्च अकररलोकास्तैः अकररलोकैः—अदीनजनैः। पुनः किम्भूतः अः? 'अरत्निधीः' अरत्निः—दामस्तं

1. "सनि सम्भक्ता पन्था दान म्लेच्छ नदीतटं च" इत्युणादिवृत्तौ॥

व्याप्नोतीति योऽसौ तथा, यदुक्तमुणादौ–"[1]अरत्निः बाहुमध्यं गमः उत्कनिष्ठश्च हस्तः।" [सि. हे. उ. सू. ६८२] पुनः किम्भूतः सः? 'पदिरविदिः' "पदिरःमार्गः"[सि. हे. उ. सू. ४१२] इत्युणादिवृत्तेः पदिरः–मार्गः प्रस्तावान्मुक्तिमार्गस्तस्य विदिः–ज्ञानं यस्य स तथा, 'विद ज्ञाने' "इकिश्तिव् स्वरूपार्थे" [सि. हे.५।३।१३८] इति इप्रत्यये सिद्धिः। पुनः किम्भूतः सः? 'व्रतप्रारम्भदीः' व्रत्यते–सातत्येन जायते धर्मो येभ्यस्ते व्रताः–एकादशाङ्गानि, तेषां प्रारम्भः–प्रारम्भणं तेन द्यति–दुःखं द्यति योऽसौ विचित्र व्रतप्रारम्भदीः। पुनः किम्भूतः सः? 'अम्ब्यसीः' "अम्ब च गतौ" गत्यर्थानां प्राप्त्यर्थत्वाद्, यपि अम्ब्या–प्राप्यग्राह्या गीः–वाणीर्यस्यासौ तथा। अकारः पादपूरणार्थः। पुनः किम्भूतः सः? 'विहरणिमरणिमीः' हरणिः–मृत्युः, यदुक्तमुणादौ—"हरणि. कुल्या मृत्युश्च" [सि. हे. उ. सू. ६३८] इति, मरणी–रात्रिः, औणादिकः, हरणिरेव मरणी हरणिमरणी, विगता हरणिमरणी यस्या सा विहरणिमरणी–सिद्धिः,तां मयति–प्राप्नोति योऽसौ तथा,"मीङ् गत्यौ" क्विबन्तः। पुनः किम्भूतः सः? 'अर्कम्' स्तुतिजनकः। पुनः किम्भूतः सः? 'अम्' दीप्त इत्यर्थः, "अम दीप्तौ" क्विबन्तः। पुनः किम्भूतः सः? 'प्रटारः' "टारो लिङ्गतुरङ्गयोः" [अने. सं. का. २ श्लो. ४२६] इत्युक्तेः प्रगताः टाराः–तुरङ्गा यस्मात् स तथा ॥५१॥

---

1 "अर्तेरत्निः ॥६८२॥ ऋत् गताविन्यस्मादत्निः प्रत्ययो भवति।" इत्युणादिवृत्तौ।

स्थविरमुनिरघीवा रण्टगत् रंहखोरः,
सरिरजकरदीप्रो रङ्कुचोरप्रघोरः ।
चमरजितिरखर्जूरः सुसौरम्यकारः,
सुपरमपरमेष्ठी रम्वतोरः पपार ॥५२॥

व्याख्या—'सुपरमपरमेष्ठी' सु–अतिशयेन परमः–प्रकृष्टः सुपरमः, स चासौ परमेष्ठी च सुपरमपरमेष्ठी–श्रीअरनाथजिनः 'पपार' प्रीतिं अजनयत्, जनानामिति गम्यते। किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'स्थविरमुनिः' स्थविराः–वृद्धा मुनयो यस्यासौ तथा। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'अघीवा' निर्व्याधिः, यदुक्तमुणादौ—"घीवा मनीषी निपादः व्याधिः मत्स्यश्च" [सि. हे. उ. ६०८] इति। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'रण्टगत्' "रटि स्तेये" सौत्रो धातुः–अचन्तः, रण्टात्–चौरिकाया गच्छति–दूरं याति योऽसौ तथा। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'रंहखोरः' "रहि गत्यां" ज्ञानार्थः अलन्तः, रंहः–ज्ञानं प्रस्तावाद् मिथ्याज्ञानं तस्य खोरः–खोटनं यस्मात्स तथा, "खोऋ खोटने" अलन्तः। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'सरिरजकरदीप्रः' [1]सरिरे–पानीये जायते सरिरजं–पद्मं, तद्वत् करौ–पाणी ताभ्यां दीप्रो यः स तथा। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'रङ्कुचोरप्रघोरः' रङ्कवः–मृगास्ते इव रङ्कवस्ते च ते चोराश्च रङ्कुचोरास्तेषु प्रघोरः–भयङ्करशब्दो यस्य स तथा, "घुरस् ध्वनौ भीमार्थे" घञन्तः। पुनः किम्भूतः

१. "जलं जडं च सलिरं, सरिलं सलिलं रं(?) तथा ॥९३॥ सरिरं" इति शब्दरत्नाकरः, का० ४।

सुपरमपरमेष्ठी ? 'चमरजितिः' चमरः—दैत्यः, "चमरश्चामरे दैत्ये" [अने. स. का ३ श्लो. ११५४] इत्युक्तेः, चमर इव चमरः—कषायादिचतुष्कलक्षण. शत्रुस्तस्य जितिः—जयो यस्मात् स तथा । पुन. किम्भूत सुपरमपरमेष्ठी ? 'अखर्जूरः' नास्ति खर्जूरः—रूप्यं यस्यासौ तथा। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'सुसौरभ्यकार.' "सौरभ्यं गुणगौरवे" [अने० सं० कां. ३ श्लो. १११] इत्युक्तेः सुष्ठु "सौरभ्यं—गुणगौरवं तस्य कारः—यत्नो यस्य स तथा, "कारो बले वधे यत्ने" [अने. सं का. २ श्लो. ४०६] इत्युक्ते'। पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी ? 'रम्वतीः' "रम्व गतौ" तिव्प्रत्ययान्त', रम्वतिः—गतिः प्रस्तावात् स्वर्गापवर्गगतिस्तस्य इः—प्रापणं यस्मात् स तथा । पुनः किम्भूतः सुपरमपरमेष्ठी? 'अम्' अस्यति—क्षिपति कर्माणि यौऽसौ क्विपि अम् ॥५२॥

सत्पूरशर्करविभूरकडार ! वागरं,
भण्डीरकिङ्करकटीरगभीरकः किर ।
वाधीरचारुरणतीरपटीरसुन्दर-
कोटीरपुण्यरयहेरसहोरकुञ्जरः ॥५३॥

व्याख्या—हे 'अकडार !' न कडारः—न विषमदन्तो यः सोऽकडारः, "कडारः पिङ्गलः विषमदशनश्च" [सि. हे. उ सू. ४०५] इति उणादिवचनात्, तत्सम्बोधनं हे अकडार !—हे सुदन्! हे श्रीअरनाथजिन! त्वं 'किर' क्षिप। किं तत् ? 'वागरं' कन्दर्पम्, यदुक्तमुणादौ—"वागरः दिवगः कामः अग्निः प्रावृट् च" [सि हे. उ सू ३६७]। किम्भूतस्त्वं ? 'सत्पूः'

प्रधानकायः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अशर्करविभूः' न शर्कराः—कर्कशाः प्रस्तावात् साधवो यस्य स अशर्करः, यदुक्तमुणादौ—"शर्करा मत्स्यण्डिकादिः कर्कशः क्षुद्रपाषाणावयवश्च" [सि. हे. उ. सू. ४३५] इति, विशिष्टा भू—उत्पत्तिर्यस्य स विभूः, अशर्करश्चासौ विभूश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'भण्डीरकिङ्करकटीरगभीरकः' [1]"भडीर-भण्डीरौ योद्धृविशेषवाचकौ औणादिकौ, भण्डीराः—योद्धृविशेषाः किङ्कराः—दासा यस्यासौ भण्डीरकिङ्करः, कटीरं—जलं तद्धेतुत्वात् कटीरं समुद्रस्तद्वद् गभीरो यः सः कटीरगभीरः, कटीरगभीर इव कटीरगभीरकः, स्वार्थे कः, भण्डीरकिङ्करश्चासौ कटीरगभीरकश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'वापीरचारुरणतो' वापीरः—मेघस्तद्वत् चारुः—प्रधानो यो रणितः—शब्दस्तेन इः—शोभा यस्यासौ तया। वापीरशब्दः औणादिको मेघवाची। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'अपटीरसुन्दरकोटीरपुष्यरथहेः' नास्ति पटीरः—कामो येषां ते अपटीराः, यदुक्तमुणादौ—"पटीरः कन्दर्पः" [सि. हे. उ. सू. ४१८] अपटीराणां सुन्दरकोटीर इव—प्रधानमुकुट इव योऽसौ अपटीरसुन्दरकोटीरः, पुष्यरथः—क्रीडारथः प्रस्तावाद् धर्मपुष्यरथः,तेन हिनोति—याति योऽसौ विधि पुष्यरथहेः, "हि वर्द्धने गतौ" अपटीरसुन्दरकोटीरश्चासौ पुष्यरथहेश्चेति कर्मधारयः। पुनः किम्भूतस्त्वं? 'असहोरकुञ्जरः' सहोरः—विष्णुः, नास्ति सहोरो देवत्वेन येषां ते असहोरास्तेषु,

[1] "भडीरःभण्डीरश्च योद्धृवचने" इति हैमोणादिसूत्र ४२२ वृत्तौ।

कुञ्जर इव योऽसौ तथा, "सहोरः विष्णुः पर्वतश्च" [सि. हे. उ सू. ४३३] इति उणादिवचनात् ॥५३॥

प्रसरसुपरवाणेरं ददार प्रखोरः
सुगिरयऋरभर्त्तारः परीरः स्वनेरः ।
कनिरसनरवृद्धेरर्ज्यधीरंभ्यगोरः,[1]
पतिरचिकुरसाधोरबंसंरग्यलीरः ॥५४॥

व्याख्या—सुष्टु गिरयः–पूज्या ये ते सुगिरयः–विद्वांसः, वदन्तीत्यध्याहार्यम्, "गिरिः पूज्ये" [अने. सं का. २ श्लो. ४१६] इत्युक्तेः । चतुर्थपादान्ते 'अ' सिद्ध.–श्रीअरनाथजिनः 'ददार' अदारयत् । किं तत्? 'अं' व्याधिं "अं मान्तो ब्रह्मसंवादे परब्रह्मप्रवाचकः ॥ व्यसने व्याधिते व्याधौ" [वि. ए. १९-२०] इति वचनप्रामाण्यात् । कस्य? 'प्रसरसुपरवाणेः' प्रसरः–प्रेमस्तद्धेतुत्वात् प्रसरः, "प्रसरस्तु सङ्गरे प्रणये" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११७३] इति हैमानेकार्थोक्तेः, सु–अतिशयेन परवाणिः–धर्माध्यक्षो यः स सुपरवाणिः, "परवाणिर्धर्माध्यक्षे" [अने. सं. का. ४ श्लो १४५७] इति वचनप्रामाण्यात्, प्रसरश्चासौ सुपरवाणिश्च प्रसरसुपरवाणिस्तस्य । तथा किम्भूतः अः? 'प्रखोः' प्रगता खोः–उत्पत्तिर्यस्मात् स तथा । कस्य? 'रः' पापस्य, "ऋनिषेधो भयं पुण्य, वरुणोऽमरराड्जः । करी तरः पाप्मा" [गो ए. ८] इत्युक्तेः, "रुध् भूतिपूरयुस्तो" किवन्तः । किम्भूताः सुगिरयः? 'ऋरभर्त्तारः' ऋ–धर्मः "ऋशब्दः पावके

[1] 'अभ्यगोरः' इत्यस्य व्याख्यानं लेखकप्रमादात् पतितमादर्शे ।

सूर्ये घर्मे" [वि. ए. ११] इति वचनात्, रं-धनं, "रं रत्नं रोदनं धनं" [सौ. ए. ८३] इत्युक्तेः, आ च रं च ऋरे, तयोर्भर्त्तारः-पोषका ये ते तथा। पुनः किम्भूतः अः ? 'परीरः' परीरहेतुत्वात् परीरः, यदुक्तमुणादौ—"परीरं वलं" [सि. है. उ. सू. ४१८]। पुनः किम्भूतः अः ? 'स्वनेरः' न सन्ति एराः—एडका यस्यासौ अनेरः, सुष्ठु अनेरः स्वनेरः। पुनः किम्भूतः अः ? 'कनिरसनरवृद्धेः' केन—दुःखेन निरसनाः—निरासाः कनिरसनाः, "निरसनं निसूदने। निष्ठीवने निरासे च" [अने. सं. का. ४ श्लो. १५५०] इत्युक्तेः राः—नराः, कनिरसनाश्च ते राश्च कनिरसनरास्तेषां वृद्धिः—हर्षो यस्मात् स तथा, तस्य कनिरसनरवृद्धेः—यतिनः 'पतिः' स्वामी। पुनः किम्भूतः अः ? 'अर्ज्यधीः' उपार्जनार्हध्यानः। किम्भूतस्य कनिरसनरवृद्धेः ? 'अचिकुरसाधोः' "चिकुरोऽह्रौ गृहे बभ्रौ, केशे चञ्चलशैलयोः।" [अने. सं. का. ३ श्लो. ११५५] इत्युक्तेः न चिकुरः अचिकुरः—अचञ्चलः, साधुः—मनोज्ञः, अचिकुरश्चासौ साधुश्च अचिकुरसाधुस्तस्य। पुनः किम्भूतः अः ? 'अर्वसंरग्यलीः' "अर्व गतौ" अर्वन्ति—धर्माद् दूरं यान्ति ये ते अर्वाः—नास्तिकमतिनः, "रगक् स्वादाऽऽप्त्योः" तान् संरागयन्ति—प्राप्नुवन्तीत्येवंशीला अर्वसंरगिनः, तेन लीयन्ते—नाश्लिष्यन्ते यत्रासौ अर्वसंरग्यलीः ॥५४॥

अथोपसंहारमाह—

इत्थं देवेन्द्रसङ्घप्रणतनरपतिह्लाददस्तीर्थनाथो,
भद्रं दद्यादरः सोऽभिमतघृतिततिप्राप्तिदः प्राप्तमुक्तिः।

ख्यातश्रीवाचकज्ञानविमलसुगुरूणां प्रसादाद्धि यस्य,
चक्रेश्रीवल्लभेन प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवोऽयम् ॥५५॥

व्याख्या—सः 'अरः' श्रीअरनाथजिनः 'भद्रं' मङ्गलं 'दद्यात्' प्रयच्छतु । सः कः ? यस्य 'अयं' प्रत्यक्षः 'इत्थं' अमुना प्रकारेण 'प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवः' प्रकृष्टं दलानां पत्राणां दशशतं—सहस्रं यस्मिंस्तत् प्रदलदशशतं, तच्च तद् अम्भोजं च—पद्मं प्रदलदशशताम्भोजं, तद्गर्भो यस्मिन् स प्रदलदशशताम्भोजगर्भं, स चासौ स्तवश्च—स्तवनं प्रदलदशशताम्भोजगर्भस्तवः 'चक्रे' अकारि । केन ? ['श्रीवल्लभेन'] श्रीवल्लभाख्येन साधुना इत्यर्थः । कस्मात् ? ख्यातश्रीवाचकज्ञानविमलसुगुरूणां प्रसादात् 'हि' इति निश्चये । किम्भूतोऽरः ? 'देवेन्द्रसङ्घप्रणतनरपतिह्लाददः' सुरेन्द्रनिकरनमनुजेश्वरप्रमोददायकः । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'तीर्थनाथः' चतुर्विधसङ्घनाथः । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'अभिमतधृतिततिप्राप्तिदः' अभिमताः—वाञ्छिता धृतयः—सन्तोषसुखानि तासां ततिः—श्रेणिः अभिमतधृतिततिस्तस्याः प्राप्तिदो यः स तथा । पुनः किम्भूतोऽरः ? 'प्राप्तमुक्तिः' अवाप्तसिद्धिः ॥५५॥

इति श्रीसहस्रदलकमलगर्भस्तवश्रीअरनाथ-
जिनस्तववृत्तिः समाप्ता ।

[वृत्तिकार–प्रशस्तिः।]

खरतरगणजलधिसमुल्लासनरजनीपतिप्रकाराणाम् ।
नम्रानेकनराणां, श्रीजिनमाणिक्यसूरीणाम् ॥१॥
पट्टे वरे [ऽधि] विजयिषु, कुमतिलताव्रातनाशनहिमेषु ।
श्रीमच्छ्रीजिनचन्द्राभिधानसूरिस्वधीशेषु ॥२॥
युग्मम् ।
येषां स्फुरत्प्रतापाधिक्यजितः सन् निरन्तरं भानुः ।
भ्रमतितमांवियति हि ते,ज्ञानविमलवाचका नन्द्युः ॥३॥
तत्पादाम्बुजमधुकरशिष्यश्रीवल्लभेन गणिना वं ।
विहिता स्तववृत्तिरियं, यदनृतमिह तद्बुधैः शोध्यम् ॥४॥
युग्मम् ।

॥ इति वाचनाचार्यधुर्यस्मयनिकवादीन्द्रकरीन्द्रवार-
पुण्डरीकप्रकारनिर्मलदिङ्मण्टलव्यापियशःपुञ्ज-
श्रुताब्धिपारीण-वाचनाचार्यश्रीज्ञानविमलगणि-
प्रवराणां शिष्य-पण्डित श्रीवल्लभगणिना
कृता [स्वोपज्ञ]सहस्रदलकमलगर्भितश्री-
अरनाथजिनस्तववृत्तिः
समाप्तिमगमत् ।

सारदारदरक्षारवारपारं दुरन्तरम् ।
तारयारं तरस्तार-तरसा रक्तरक्त . . ॥ १० ॥
. . . लस्य लज्जारं, मारज्वरज्वलत्पुरम् ।
स्फुरद्विरतिरत्नार-नारवर पुरन्दर! ॥ ११ ॥
घोरचारं चलद्घोरं, भरश्वारभरस्वरम् ।
निरन्तरसरं नीरसार तारय रम्भरम् ॥ १२ ॥
वीरधीरस्फुरच्छीलशैलसारङ्गरङ्गर ।
गारवो रतर . . . . . . रतरस्तर ॥ १३ ॥
सारं सारङ्गरङ्ग रविरतरतिरं सारसारं सुरङ्गं,
रम्यं रम्यं रमारं मरकरमरकं रक्तरक्तारवारम् ।
वारं वार विरक्त रविरविरमरं मारमारं निरस्तं,
रक्ष्या रक्षारवारक्षरवरखरकं . . . खारम् ॥ १४ ॥
स्मारं स्मारं सुरश्मि रसरसरसरं सारसारं शिरस्थं,
रङ्कारङ्कोरगारस्थिरचरमुरसा रम्भरक्तारतं रम् ।
आरम्भारम्भरम्भेरमरपरपरं वारपारं वरत्र,
. . . श्वरश्वरचुरचं लब्धरङ्कार . . . . ॥ १५ ॥
स्वैरं स्वैरं शरण्यं रणरणरणिरं कारणारण्यरण्या,
रण्यारण्यं रसारं सरसरसरसा रन्दरस्फारसीरम् ।
गौरं गौरङ्गिरं ता रगरगरगिरं गौरगौरङ्गिरत्नं,
रङ्गारङ्गारगारं करगिरमुरसा रङ्गिरङ्गैरगौरम् ॥ १६ ॥
सारं सारस्फुरद्गीरसरपरपरं वारणैरन्तरस्या-,
रम्यारम्भारमारं करणरणरणं रङ्गिरङ्गैरगारम् ।
यो रम्भा रन्तु रम्भोरवरवरतरस्मेरणोरं घरस्या,
रक्तै रमतोरजोरं विरतिरविरतेरङ्कुरं स्मारयारम् ॥ १७ ॥

गरधरचरकरवरतरसुरवर,
भरटरचरटरवरटरकरटिर ।
जरठरनरवरजरठरपरठिर,
सरडरसरडरकरटरटरहर ॥ २४ ॥
प . . . . रसुरवरवरपर,
परकरणरपरणरवरणरहर ।
निरजिरनिरजिरनिरजिरनिरजिर,
दुरशिरदुरशिरदरहरनिरसुर ॥ २५ ॥
दुरसुरनिरघरनरघरचरघर,
चरदरसरदरदर . . . रसर ।
स्वरचलचलनरकुलसरकलकल,
भरतरभरतरवरतिलतिलकर ॥ २६ ॥
कुरकुरङ्करकीरकरं करं,
दर पुरन्दरदूरदरं दरम् ।
हरविरञ्चिरमारवरं चिरं,
चिरतरं चर चीरचरं वरम् ॥ २७ ॥
ध . . . धरं धरणोरधरं,
विरतेरतरन्तरणीरतिरम् ।
किल कालहरं कुलकारकरं,
स्मर वीरवरं धरणोरतरम् ॥ २८ ॥
वरशीलवरं वरनीरवरं,
सुरचीरसरं सरसीरसरम् ।
परवीरकरं करणेरकरं,
स्मर व . . . स्मर वीरहरम् ॥ २६ ॥

वीरं वरं वरतरं वरवेरवारं,
धीरं धर धर धुरन्धरधीरधीरम् ।
सारस्वरं स्मर सरस्थिरसारसीरं,
धीरं धरं धर धर वर वेरवेरम् ॥ ३० ॥
दरभरदरदारं दूरदारं दुरन्त,
रदिरदरद . . , रं भारभारम् ।
भर भरभरभारं भैरवारम्भरंहो,
रहरहरहरं हीरं हरं हीरहीरम् ॥ ३१ ॥
सुरवर-सुरवर-सुरवर-सुरथ,
रविरथरविरथरविरथरथर ।
करतरकरतरकरकरचरण,
रविरलरविरलरविरलरवल ॥ ३२ ॥
वीरं परं वरपरं परवारवारं,
हीरं हरं हर हरं हरहार हरम् ।
कीरं करं कर करं करकारकारं,
नीरं निरङ्कुरकरं निरगारसारम् ॥ ३३ ॥
सुरद्रुरं सुरसुरं सुरशैलसारं,
सारङ्ग . . . रतरं हर सेरसारम् ।
सारत्वरं दरतरं गरगैरहारं,
हारं हिरण्यरपुरं परमेरपारम् ॥ ३४ ॥
श्रीरत्नरत्नरमरं नरवारणे रं,
हैरण्यरं वरकर करमालवारम् ।
हारं सुरस्थुरसिरं गरमालभालं,
व्यारं . . . वरकरं वर वीरवीरम् ॥ ३५ ॥

वीरं स्मरन्त्युरतरं नरनीरजोरं,
पारम्परं परपरं परमोरसारम् ।
तेरन्त्यर सुरपुरं सुरसैरसालं,
सारस्वरस्वरवलं मुरतैरपारम् ॥ ३६ ॥

कैरक्षरक्षरतरक्षरनीरसीर--
. . रस्थिरं स्थिरतरं सुरतैरतारम् ।
पारं दुरन्तरजलस्यरसारसारं,
श्रीलब्धरङ्गरसरं सुरसालसालम् ॥ ३७ ॥

आरम्भरङ्गरतरङ्कुरजोरहारं,
हेरम्बरं वरतुरङ्गरसूरचारम् ।
संरम्भरम्भरसलंम्भरसालवारं,
सार शरण्यरवरं सुलयोरसारम् ।
शारं सुरं तुरपरं तुर . . र सारं,
वीरं स्मर स्थिरकरं चरणोरचारम् ॥ ३८ ॥
षट्पदी,

अत्र बन्धे १०१६ षोडशोत्तरसहस्रपत्रबन्धमिदम् ।
श्रीः ॥

परिशिष्ट ख

उपाध्यायश्रीसहजकीर्तिगणिसन्दृब्धः

श्रीपार्श्वनाथजिनस्तवः

(शतदलकमलमयः)

श्रीनिवासं सुरश्रेणिसेव्यक्रमं,
धामकामाग्निसंतापनीरोपमम् ।
माधवेशादिदेवाधिकोपक्रमं,
तत्त्वसंज्ञानविज्ञानभव्याश्रमम् ॥ १ ॥
मव्यनीरागताकेलिकर्मक्षम,
यं[य]स्य भव्यैर्भजे नाम सम्यक्रमम् ।
नीरसं पापहं स्मर्यते सत्तमं,
तिग्ममोहार्त्तिविध्वंसतापाश्रमम्[1] ॥ २ ॥
लब्धप्रमोदजनकादरसौख्यधामं,
तापाधिकं[2]प्रमदसागरमस्तकामम् ।
घण्टारवप्रकटिताद्भुतकीर्तिराम,
नक्षत्रराशिरजना[?नी]रनताभिरामम्[3] ॥ ३ ॥
घण्टापथप्रथितकीर्त्तिरमोपयामं,
नागाधिपः परमभक्तिवशात् सवामम् ।
गंभीरधीरसमतामयमातङ्गमं[4] (?),
मं[?म]र्यानतं नमत तं जिनपं निकामम् ॥ ४ ॥

---

१ 'तापाश्रमं' इति ना. ।
२ 'तापाधिक—' इति जे. ।
३ 'रजनायलताभिरामम्' इति जे ।
४ 'माजगाम' इति ना. ।

संसारकान्तारमपास्य नाम
कल्याणमालास्पदमस्तशामम् ।
लाभाय बभ्राम तवाविरामं,
लोभाभिभूत. श्रितरागधूमः ॥ ५ ॥
कर्मणां राशिरस्तोकलोकोद्गम–
संभृतेः कारणं मे जिनेशावमम् ।
पूर्णपुण्याढ्य दुःखं वियत्तेऽन्तिम,
र्ण[?न]क्षमस्त्वा विना कोऽपि त दुर्गमम् ॥ ६ ॥
कार्मणं निर्वृतेर्हन्तुमन्योऽसम.
यं[?य]क्षराट्पूज्य तेनोच्यते निर्मम ।
श्रीपते ! तं जहि द्राग् वियायोद्यमं,
शान्तमोऽत्राद्य मे देहि ऋद्धिप्रमम् ॥ ७ ॥
यस्य कृपाजलघेविश्रामं
कण्ठगताग्नुमुभटसङ्ग्रामम् ।
भयजनकव्याया . . . मं,
जेतारं जगत. श्रितधामम् ॥ ८ ॥
कक्षीकृतवसुभृतपुग्रामं,
लापोच्चारमहा . . . मम् ।
केदोच्चयमिह नयने क्षामं,
लिङ्गति कमला[१] कुरु ते क्षेमम् ॥ ९ ॥
कल्पयति जगता प्रे . . . . . म,
लम्भयति सौख्यपटलमुद्दामम् ।
काल हन्ति च गतपरिणाम,
मह तं महिमस्तो . . . मम् ॥ १० ॥

१ 'कमला' इति जे. ।

रसंन[?न]थेप्सितदानसुरद्रुमं,
हितमहीरुहवृद्धिजलोत्तमम् ।
तं[1][?त]दणपुण्यरमोदयसङ्गमं,
समरसामृतसुन्दरसंयमम् ॥ ११ ॥

हिनस्ति सद्ध्यानवशात्[2] स्म मध्यमं,
तं तीर्थनाथं स्वमत.प्लवङ्गमम्[3] ।
सुरासुराधीशममोघनंयमं,
रैः नाथ सम्पूजितपद्युगं स्तुमम् ॥ १२ ॥

संसारमालाकुलचित्तमादिमं,
सा[?शा]स्त्रार्थसंवेदनशून्यमश्रमम् ।
रम्याप्तभावस्थितपूर्णनिद्घन,
सर्पाङ्कितः शोषितपापकर्दमः ॥ १३ ॥

रत्नत्रयालङ्कृतनित्यहेम !
सीमाद्रिसारोपमसत्त्वसोम ! ।
शोभामयो ज्ञानमयं विरामं,
षड्वर्गं मां देव विधेह्यकामम् ॥ १४ ॥

भावविभासकनष्टविलोम,
स्यन्दितस्कन्दन्तं प्रणमाम ।
रङ्गपतङ्गनिवारणसुभीमं,
कम्बुदानं(गलं) जिनप हृत ते भीमम् ॥ १५ ॥

---

१ 'त सदापुण्य—' इति जे. ।
२ 'मद्ध्यानावस्थितस्य' इति जे. ।
३ 'स्मरप्लवङ्गमं' इति जे. ।

मन्त्रेश्वरः पार्श्वपतिः परिश्रमं,
लाभाश्रितस्यापनया मनोरमम् ।
कर्मोत्थितं मे जिन साधु नेगमं,
रम्भाविलासालसनेत्रनिर्गमम् ॥ १६ ॥
समिनिमारशरीरमविभ्रमं,
हरिनतोत्तमसूरिगमागमम् ।
श्रयत तं नितमानभुजङ्गमं,
फलसमृद्धिविधानपराक्रमम् ॥ १७ ॥
णत्रेयंस.सृजति शं जिनसार्वभौम.,
तारस्वेरण विबुधैः श्रित . . . . . . र्होम ।
शोकारिमारिविरहयतवात्तदामं,(?)
भव्यैः स्तुतं निहतदुर्मतदण्डख . . मम् ॥ १८ ॥
मायाम्बुजध्वसविधौ महद्धिमं,
न वाजयस्याशुमनस्तुरङ्गमम् ।
मन्त्रोपम ते जिन राम[?ग]म्भवमं,
स्तवेन युक्तं गुणरत्नकुट्टिमम् ॥ १९ ॥
कलिशैलोरव्याधाम-
माहात्म्यं हृदयङ्गमम् ।
लब्धश्रितवसुत्राम,
यन्तिवर्गस्तुत नुमम् ॥ २० ॥
लोकोत्पत्तिविनाशसंस्थितिविदां मुख्यं जिनं वै स्तुमं,
द्रव्यारक्तमगाधर नमत भो! पूजा वरा पाश्विमम् ।
परगक्षस्य तव स्तवं त्वमिमित्त... करीन्द्रगं
सतद्भायमयं मम वदतस्त्रैकाभ्यस्तवंदमम्(?) ॥ २१ ॥

नयनाननसद्धोमं,
हन्ति तव उद्गम ।
स्थावराम्[?सु]मतां स्याम,(?)
नयते शकर्कृतिमम् ॥ २२ ॥
दासानुदासस्य मम,
नवानन्दविहङ्गमम् ।
मायति प्राप्य सुभ्रमं(?)
नया [?नया] क्षत्तां महाद्रुमम् ॥ २३ ॥
क्षमायोऽहित्यनियामं, मानवार्च्यं महाक्षमम् ।
गुणिपूज्यं प्रीणयामः, र्रुचिं[? रुचिं]स्तौमि नमं नमम् ॥ २४ ॥
स्मरन्ति यं सुन्दरयक्षकर्दमं,
रागात् समादाय नहन्ति कोङ्कमम् ।
मिथो मिलित्वा नवु(?)जात्यकुङ्कमं,
चन्द्राननं तं प्रविलोकनाद्रमम् ॥ २५ ॥
इत्थं पार्श्वजिनेश्वरो भुवनदिक्कुम्भ्यङ्गचन्द्रात्मके,
वर्षे पावकरत्नसारकृपया राकादिने कार्त्तिके ।
माद्ये लोद्रपुरस्थितः शतदलोपेतेन पद्मेनस-
म्भूतोऽयं सहजादिकीर्तिगणिना कल्याणमाल्यप्रदः ॥ २६ ॥
श्रीवामातनयं नीतिलताघन घनागमम् ।
नक्रन्यालोकसंपूर्णकायं श्रीदायकं भजे ॥ १ ॥
कलावेलि कलं कामरहितं सहितं सुरैः ।
संसारसरसीमोपमास्करं कमलाकरम् ॥ २ ॥
सहस्रफणताशोभमानमस्तकमाल्यम् ।
लोद्रपत्तनसंस्थानदानमानं क्षमागुरुम् ॥ ३ ॥
स्मरामि च ।

[शतदलकमलबहिःस्थो लेखः]

ऐं नमः ।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यर्थं पदं दत्तवान्,
येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः ।
तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवराः श्रीजैनसिंहाभिधा-
स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १ ॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्षोडशाब्दे (१६७५) सित-
द्वादश्यां सहसः प्रतिष्ठितमिदं चैत्यं स्वहस्तश्रिया ।
यस्य प्रौढतरप्रतापतरणेः श्रीपार्श्वनाथेशितुः,
सोयं पुण्यभरं तनोतु विपुलां लक्ष्मीं जिनः सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,
पुत्रौ श्रीघरराजपूर्वकधरौ तस्याऽथ ताभ्यां क्षितौ ।
श्रीमल्लोद्रपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं खीमसी,
तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,
श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहरूनामकः ।
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुवं,
यः कार्याण्यकरोत्तथा त्वमरकौ पूर्णां प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमयं चाल्लेखयत् पुस्तकं,
सर्वं पुण्यभरेण पावनमलं जन्म स्वकीयं व्यधात् ।
तेनायं भवनस्य यस्य जिनपस्योद्धारकः कारितः,
सार्द्धं सद्वरराजमेघतनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५ ॥

श्रीः ।

ऐं नम.।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यस्य पदं दत्तवान्,
येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः।
तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवरा. श्रीजैनसिंहाभिधा-
स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः॥१॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्षोडशाब्दे (१६७५) सित-
द्वादश्या सहसः प्रतिष्ठितमिद चैत्य स्वहस्तश्रिया।
यस्य प्रौढतरप्रतापतरणः श्रीपार्श्वनाथेशितु.,
मोय पुण्यभरा तनोतु विपुला लक्ष्मी जिनः सर्वदा॥२॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,
पुत्रौ श्रीघरराजपूर्वकधरौ तस्याऽथ ताभ्यां क्षितौ।
श्रीमल्लोद्रपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं खीमसी,
तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जात. सुतः पूनसी॥ ३॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,
श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहरूनामकः।
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुवं,
यः कार्याण्यकरोत्तथा त्वमरको पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे॥४॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमय चाल्लेखयत् पुस्तकं,
सर्वं पुण्यभरेण पावनमल जन्म स्वकीयं व्यधात्।
तेनायं भवनस्य यस्य जिनपस्योद्धारकः कारितः,
सार्द्धं सद्धरराजमेघतनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे॥ ५॥

श्रीः।

ऐँ नम.।

श्रीसार्हिर्गुणयोगतो युगवरेत्यत्थं पदं दत्तवान्,
येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः ।
तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवरा. श्रीजैनसिंहाभिधा-
स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्षोडशाब्दे (१६७५) सित-
द्वादश्यां सहसः प्रतिष्ठितमिदं चैत्यं स्वहस्तश्रिया ।
यस्य प्रौढतरप्रतापतरणेः श्रीपार्श्वनाथेशितुः,
सोयं पुण्यभरां तनोतु विपुलां लक्ष्मीं जिनः सर्वदा ॥ २॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,
पुत्रौ श्रीधरराजपूर्वकधरौ तस्याऽथ ताभ्यां क्षितौ ।
श्रीमल्लोद्रपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं स्रीमसी,
तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,
श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहरूनामकः ।
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्तमानि ध्रुवं,
यः कार्याण्यकरोत्तथा त्वमरफो पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनरामयं चालेखयत् पुस्तकं,
सर्वं पुण्यभरेण पावनमलं जन्म स्वकीयं व्यधात् ।
तेनायं भवनस्य यस्य जिनपस्योद्धारकः कारितः,
सार्द्धं सद्वरराजमेघतनयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५,

नैः।

ऐँ नम.।

श्रीसाहिर्गुणयोगतो युगवरेत्यत्यं पद दत्तवान्,
येभ्यः श्रीजिनचन्द्रसूरय इलाविख्यातसत्कीर्तयः।
तत्पट्टेऽमिततेजसो युगवरा. श्रीजैनसिंहाभिधा-
स्तत्पट्टाम्बुजभास्कराः गणधराः श्रीजैनराजाः श्रुताः ॥ १ ॥

तैर्भाग्योदयसुन्दरैरिपुसरस्वत्पोडशाब्दे (१६७५) सित-
द्वादश्यां सहसः प्रतिष्ठितमिद चैत्यं स्वहस्तश्रिया।
यस्य प्रौढतरप्रतापतरणेः श्रीपार्श्वनाथेशितुः,
मोय पुण्यभरां तनोतु विपुला लक्ष्मी जिनः सर्वदा ॥ २ ॥

पूर्वं श्रीसगरो नृपोऽभवदलङ्कारोन्वये यादवे,
पुत्रौ श्रीधरराजपूर्वकधरौ तस्याऽथ ताभ्यां क्षितौ।
श्रीमल्लोद्रपुरे जिनेशभवनं सत्कारितं खीमसी,
तत्पुत्रस्तदनुक्रमेण सुकृती जातः सुतः पूनसी ॥ ३ ॥

तत्पुत्रो वरधर्मकर्मणि रतः ख्यातोऽखिलैस्सद्गुणैः,
श्रीमल्लस्तनयोऽथ तस्य सुकृती श्रीथाहरूनामकः।
श्रीशत्रुञ्जयतीर्थसङ्घरचनादीन्युत्समानि ध्रुव,
यः कार्याण्यकरोत्तथा त्वमरफी पूर्णा प्रतिष्ठाक्षणे ॥ ४ ॥

प्रादात् सर्वजनस्य जैनसमय चाल्लेखयत् पुस्तकं,
सर्वं पुण्यभरेण पावनमल जन्म स्वकीय व्यधात्।
तेनाय भवनस्य यस्य जिनपस्योद्धारकः कारितः,
मार्द्धं सद्वरराजमेघननयाभ्यां पार्श्वनाथो मुदे ॥ ५ ॥

परिशिष्ट ग

– मूलपद्यानामकाराद्यनुक्रमणिका –

वृत्तिकारोद्धृतग्रन्थानां तालिका

अनेकार्थनाममाला ३-४, ३-१०, ४-७, ४-८, ४-१०, ५-६, ५-१७, ६-१९, ८-२, ९-१५, १०-१५, १३-११, १३-२२, १४-१२, १८-२२, २३-३, २३-१४, २४-२, २४-८, २४-१८, २४-२१, २५-७, २५-१४, २५-१९, २५-२२, २६-११, २७-२, २७-१२, २८-१, २८-४, २८-६, २८-१७, २८-१९, २९-२३, ३२,-५, ३२-११, ३२-२२, ३३-७, ३३-१२, ३५-११, ३५-१४, ३७-४, ३७-८, ३७-१८, ४०-१०, ४२-१८, ४३-२, ४३-३, ४३-६, ४३-१९, ४४-६, ४४-२०, ४५-१०, ४६-५, ४६-१६, ४६-२०, ४८-३, ४८-१०, ४८-१७, ४८-२०, ४९-३, ४९-१४-१५, ५०-२, ५०-७, ५४-२, ५४-१७, ५५-१३, ५६-१२, ५७-२२, ५८-१०, ५८-१३, ५८-१६, ५९-६, ५९-७, ५९-१३, ५९-१४, ५९-२२, ६०-७, ६०-२०, ६१-३, ६२-१, ६२-७, ६२-९, ६२-१७, ६२-१९, ६१-२१, ६४-१६, ६५-२, ६५-१७, ६५-१९, ६५-२१, ६५-२३, ६६-१, ७०-२१, ७१-१३, ७१-१७, ७२-९, ७२-१९, ७५-७, ७५-१९,